239.3
हनु/स

ओम्–राम

श्रीसद्गुरुकवीरहनुमत्साहित्यसभाके

तृतीयपुष्प

श्रीसद्गुरु कवीरवेदादि वचनरहस्यैकता

लेखक

ब्रह्मनिष्ठस्वामीश्रीहनुमानदासजीसाहब षट्शास्त्री

प्रकाशक

श्रीसद्गुरुकवीरहनुमत्साहित्यसभा

239·3
नु। स

सम्पादक

स्वामीश्रीसुभद्रदासांख्ययोगवेदान्ताचार्य

वि० सं० २०३८ } वसन्त पञ्चमी { प्रथम संस्करण १००० प्रति

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
भूमा वै सुखम्
उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ
पुस्तकालय
परिग्रहण क्रमाङ्क 3180
वर्गाङ्क 239.3
पुस्तकाङ्क ह्नु/स

ओम्–राम

श्रीसद्गुरुकवीरहनुमत्साहित्यसभाके

तृतीयपुष्प

लेखक

ब्रह्मनिष्ठ स्वामीश्रीहनुमानदासजी साहब षट् शास्त्री

प्रकाशक

श्रीसद्गुरुकवीरहनुमत्साहित्यसभा

सम्पादक

स्वामी सुभद्रदास सांख्ययोगवेदान्ताचार्य

वि० सं० २०३८ | वसन्त पञ्चमी | प्रथम संस्करण १००० प्रति

पुस्तक मिलने का पता :—

(१ श्री जयन्तीलाल मणिलाल महेता, बी. ए.
रावपुरा कोठी के पास,
शास्त्रीपोल के समीप,
मु. बडोदरा (गुजरात) ३९०००१

(२) स्वामीश्रीसुभद्रदासजीसाहब सांख्ययोगवेदान्ताचार्य
के० ६७/६६-ए. महेश कालोनी,
ईश्वरगङ्गी, वाराणसी (उ. प्र.) २२१००१

मुद्रक :—
हनुमान मुद्रण यन्त्र
बड़ी पियरी, वाराणसी २२१००१

मंगलम्

सत्साहित्यसुधां निपीय सुधियस्

त्यक्त्वा विषं वासनाम् ।

पञ्चकलेशसमुद्भवां जनिमतां

दुःखप्रदां सर्वदा ॥

ज्ञानं शान्तिकरं पुनर्भवहरं

प्रज्ञाप्रकर्षोज्ज्वलम् ।

सौख्यं देव[illegible] [illegible]णौ

[illegible] यन्तु द्रुतम् ॥१॥

सुधीजन सज्जन, सत्य साहित्यरूपी सुधा को संतों के यथार्थ साहित्य को भलीभाति पान करके देहधारी मनुष्यों के पञ्चकलेशों अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश से उत्पन्न सदा दुःखप्रद वासनारूपी विषको त्यागकर प्रज्ञाकर्ष से उद्दीप्त जन्म मरण को हरनेवाले शान्तिकर ज्ञान और देवदुर्लभ निरतिशय परमानन्द को धरातल पर शीघ्र प्राप्त करें ॥ १ ॥

ओम् राम

संस्था का परिचय

श्री सद्गुरु कबीर साहब का साहित्य अध्यात्मतत्त्व से सभर है। उनका उपदेश मानव समाज के लिए ऐक्य, विश्वबन्धुत्व की भावना और अध्यात्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति के लिए रहस्यमय उपदेश है। उनके उपदेशों को और उनके साहित्य को सुचारु रूप से समझने के लिए परम पूज्य अनन्त श्री सिद्ध ब्रह्मविद्वरिष्ठ सद्गुरुदेव, स्वामीजी श्रीहनुमानदासजी साहब—षटशास्त्री ने, बीजक ग्रन्थ शब्दामृतसिन्धु, साखीग्रन्थ आदिकी टीकाएँ और चितसुखी, ब्रह्मसूत्र, खण्डनखण्डखाद्य, गीता, विचारसागर, तत्त्वार्थमणिमञ्जूषा, तत्वार्थमणिमाला, अध्यात्मतत्त्वसम्वाद, मनोबोध, अनन्त परिचय, विचार-चन्द्रोदय, कबीरपरिचय, सद्धर्मचन्द्रिका लघुधर्मचन्द्रिका कबीरकौशलसार, तीसायन्त्र दिव्यनामावली, बीजकार्थसारसंग्रह आदि कई ग्रन्थों की टिकाएँ और रचना की हैं। परमपूज्य श्री सद्गुरुदेव श्रीस्वामीजी साहब का सब साहित्य श्री सद्गुरुकबीर साहब के साहित्य को यथार्थ रूप में समझने के लिए अतीव उपयोगी और सहायभूत है।

परमपूज्य श्रीसद्गुरुदेव श्रीस्वामीजी [illegible] भिव्यक्ति ही परब्रह्म स्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति रूप है। संतों को [illegible] यति और उनका व्यक्तित्व अवर्णनीय है। शब्दों में उनके आनन्द का उनके ज्य..तर्मय दिव्य स्वरूप का वर्णन कैसे हो सकता है? वे तो स्वयंवेद्य हैं। उनके लिए यह जगत का अस्तित्व ही मिट गया है। वे सर्वदा, भीतर, बाहर, उपर, नीचे, दायें बायें, हर घड़ी, हर ठौर, केवल सर्वात्मा राम का ही दर्शन करते हैं, वे स्वयं राम स्वरूप हैं। उनका वर्णन कोई करे भी कैसे? सद्गुरु स्वरूप ऐसे महापुरुषों के दर्शन ही दुर्लभ हैं। उनकी दृष्टि भी जिस पर पड़ती है वही प्रेम में मस्त हो जाता है। वे जहां रहते है वहां के परमाणुओं में प्रेम भरा रहता है। उनके चरणों को चूमकर पृथ्वी भी अपनी भाग्य सराहती है। उनके व्यक्तित्व में ऐसी एक अद्भूत शक्ति है कि जो मनुष्य को उनके समीप जाते ही एक क्षण में प्रेम रस में मग्न कर देती है। उनकी मधुर मृदुवाणी प्रवाह में यह ताकत हैं कि वह मनको अपना बना लेती है और मनको शान्ति देकर मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करती

हैं। आधुनिक युग के वे एक अनुपम प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। अपनी प्रतिभा के बल से उन्होंने अनेक परिस्थितियों का सामना किया और समाजका उत्थान किया, भक्ति रस का सिंचन किया, और सद्गुरु कबीर साहब का पवित्र अमर संदेश जगत को तादृशरूप में समझाया। उनका व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं का पुञ्ज है। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सिद्ध योगी, वीतराग महा उपदेशक और आधुनिक विश्व में ज्ञान की पराकाष्ठा में पहुँचे हुए महान् सिद्ध सन्त पुरुष है। आप निवृत्तिमार्ग के परमसन्त नेता हैं। शास्त्रों में और सन्त मत में वर्णित जीवन मुक्तदशा में आप स्थिर हैं।

आपका सर्व साहित्य सद्गुरु कबीर साहब के उपदेशों को यथार्थ रूप में समझने के लिए अतीव उपयोगी और सहायभूत है। इससे श्रीसद्गुरु कबीर–हनुमत् साहित्य का सुचारु रूपसे अधिक प्रसार प्रचार करने के लिए और इस साहित्य की सेवा अवरोधरहित सतत अस्खलित प्रवाह के रूप में हमेशा के लिए चालु रहे इस उद्देश्य से इस साहित्य सभा ट्रस्ट का निर्माण किया गया है। प. पू. श्री सद्गुरुदेव श्री स्वामीजी साहब के प्रेमी, अनुयायी शिष्य, संत, भक्त मंडल की बहुत दिनों से तीव्र उत्कंठा थी कि इस साहित्य का प्रचार और प्रसार सर्वजनहितार्थ किया जाय और वह साहित्य अल्प मूल्य में या अमूल्य आमजनता को प्राप्त हो इस के लिए एक ट्रस्ट कायम किया जाय। उन्होंने उनके विचार प. पू. संत शिरोमणि श्री १०८ महन्त साहब श्री रामेश्वरानन्दजी साहब साहित्य व्याकरण, वेदान्त सांख्ययोगाचार्य, श्री सद्गुरु कबीर मन्दिर, पानीगेट, बडोदरा के आगे प्रकट किए और श्रीमहन्त साहब ने उनको प्रोत्साहित किया और आपने अपनी तरफ से स्थायी कोशमें सहायता भी की। हमारा उत्साह खूब बढ़ा और यह संस्था प्रवर्तित हुई, और श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा ट्रस्ट का निर्माण ता. ५-२-१९७९ वसंत पंचमी के रोज हुआ। इस संस्था को गुजरात राज्य के धी बोम्बे पब्लीक ट्रस्ट एक्ट अनुसार बडोदरा मे.एडी.चेरीटी कमीशनर की ओफीस में रजिस्टर कराया गया है। इसका ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन नंबर ए २४९८ है। इस ट्रस्ट का प्रथम ट्रस्टी मंडल निम्नांकित है।

१. श्री १०८ महन्त पण्डित श्रीरामेश्वरानन्दजी साहब, बडोदरा—प्रमुख

२. श्री १०८ महन्त श्री रामदासजी साहब, चकनामठ—उपप्रमुख

३. श्रीस्वामी श्रीसुभद्रदासजी साहब शास्त्री, वाराणसी—सह मंत्री

४. भक्त श्री जयन्तीलाल मणिलाल महेता, बडोदरा—मंत्री

५. भक्त श्री डाह्याभाई छगनभाई पटेल, बडोदरा—उपमंत्री

इस ट्रस्ट की साहित्य सेवा की प्रवृत्ति ट्रस्ट के स्थायी कोष के व्याजमें से की जायगी। इसके लिए पुस्तकें, पत्रिकाएँ और सामयिकों का प्रकाशन कोई भी ज्ञाति, सम्प्रदाय या जाति को लक्ष्यमें न रखकर सर्वजनहितोपयोगी सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर किया जायगा। वह सिर्फ कोई एक धार्मिक सम्प्रदाय या जाति या ज्ञाति के लिए नहीं रहेगा। वह साहित्य मानव समाज के मन, अन्तःकरण और आत्मिक उन्नतिके लिए बिना साम्प्रदायिक शैक्षणिक प्रवृत्ति के रूप में रहेगा। पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा सामयिकों का प्रकाशन नफा की दृष्टि से नहीं किया जायगा। स्टृट के संचालन का व्यवहारिक खर्च बाद करके ट्रस्ट की जो आवक होगी सो सर्व स्टृट के चेरीटेबल उद्देस्यों की पूर्तीके लिए ही खर्च की जायगी। स्टृट का सर्व साहित्य जाहेर जनता के लिए नफा रहित, लागत मूल्य से या लागतमूल्य से भी कम मूल्य से, या अमूल्य वितरण किया जायगा।

इस ट्रस्ट की प्रवृत्ति के मंगलाचरण के रूप में स्टृट के प्रेमी भक्त के तरफ से सद्‌गुरु कबीर साहब का चित्र इ. स. १६७७ के प्रयागराज के कुम्भमेला के शुभ अवसर पर अमूल्य वितरण किया गया था। इस चित्र की प्रति आज भी जिसे चाहिए तो ट्रस्ट की ऑफिस श्री सदगुरुकबीर साहबका मंदिर, पानीगेट बडोदरा, या ट्रस्ट के मंत्री श्री जयन्तीलाल मणिलाल महेता–ठि. रावपुरा कोठी के पास, शास्त्री की पोल के पास, वडोदरा से प्राप्त होगी। इस ट्रस्ट के साहित्य की ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प के रूप में इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हम अतीव आनन्द की अनुभूति कर रहे हैं। इस अमूल्य पुस्तक से आम जनता अध्यात्म तत्व की अनुभूति के लिए प्रेरित और लाभान्वित हो यही इसकी सार्थकता है। इस ट्रस्ट के स्थायी कोष के लिए सहायता आवकार्य है।

इस पुस्तक में प० पू० श्री सदगुरुदेव श्रीस्वामीजी साहब ने वेद उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों और श्रीसदगुरु कबीर साहब के साहित्य के गूढ़ रहस्यों की एकता का दिग्दर्शन कराया है। दोनों दर्शनों की शैली और शाखा अलग होते हुए भी दोनों में रहस्य एकही है उसका विश्लेषण किया गया है। यह आलोचना विशिष्ट शैली युक्त, गांभीर्ययुक्त और रहस्यमय है।

आपका नम्र सेवक

जयन्तीलाल मणिलाल महेता

मंत्री

त्यक्तेषणानां यमिनां वरिष्ठः, परावर ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।
कारुण्य रत्नाकर साधुसेव्यः, श्रीसद्गुरुर्मे हनुमान् महीयान् ॥

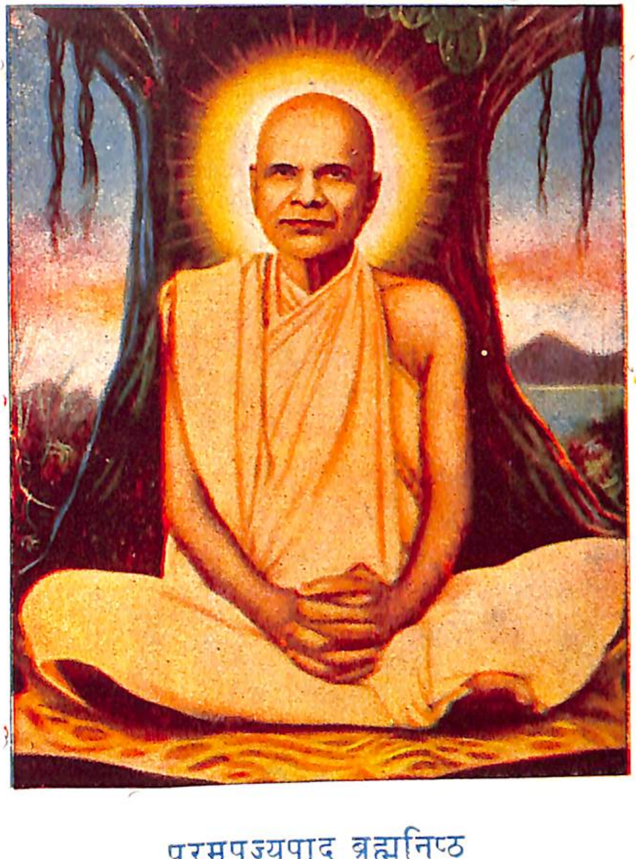

परमपूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ

स्वामीश्रीहनुमानदासजीसाहब षट्शास्त्री

ऋतम्भरा योगजधर्म जाता, प्रज्ञापरा यस्य विमुक्त शोका ।
वैराग्य विज्ञान परावतारः, सोऽयं गुरुः श्रीहनुमान् वरीयान् ॥

* ओम् राम *

श्रीसद्गुरुकबीर वेदादि

वचनरहस्यैकता

वन्दे वन्दारुभिर्वन्द्यं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
निर्गुणं निर्मलं देवं सर्वात्मानं परं पदम् ॥१॥
निराकारं निराधारमसङ्गं सर्वसाक्षिणम् ।
निर्विकारं निरासङ्गं सर्वाधारं सनातनम् ॥२॥

जाको मुनिवर तप करै, वेद थके गुण गाय ।
सोई देउ सिखापना, कहि न कोई पतिआय ॥१॥
बी० सा० १३१

श्रेष्ठ मननशील मुनि जिस सत्यात्मा परब्रह्म ईश्वर की प्राप्ति अनुभूति के लिये तप (मन, इन्द्रिय, संयम, नियम, तितिक्षा) करते हैं, तथा सत्यात्मा के तप चिन्तनध्यानादि करते हैं, वेद जिसके गुण (शक्ति, स्वभाव, महिमा) को गाकर थकता है (पार नहीं पाता है;) अनन्त, नेति-नेति, इत्यादि कहता है "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्-कुतो वयमाजाताः कुत इयं विसृष्टिः" इत्यादि वाक्यों से अनिर्वाच्यता वेद कहता है, जिसकी प्राप्ति आदि के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में तप का वर्णन है कि—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥२॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥३॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥४॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥५॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥६॥
भ० गी० अ० १७

"स्वाहा स्वधाऽमृतभुजो देवाः सत्यार्जव प्रियाः। म० भा० अनु० अ० ११५।१७॥ इत्यादि लक्षण वाला, स्वाहा स्वधारूप अमृत के भोक्ता, सत्यार्जव विषयक प्रियतायुक्त, ब्रह्माविष्णु शिवादि, अग्निसूर्य इन्द्रादिदेव, तथा "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव। तैत्तिरीय० १।११।२" इत्यादिवर्णित देव और द्विज=विप्र "हस्तावुपस्थमुदरं वाक् चतुर्थी चतुष्टयम्। एतत्सुसंयतं यस्य स द्विजो विप्र उच्यते ॥१॥ नारदीय पु० के अनुसार हस्तादि के संयमनयुक्त द्विज, तथा "तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण कारणम्। त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥१॥ म० भा० अनु० अ० १२१।७।१ कायिकादि तप शास्त्र का श्रवण, ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदादि का अध्ययन और योनि=पूर्वजन्मके शुभसंस्कार ये ब्राह्मणत्व के कारण है, इन तीनों से जब समुदित=प्रकाशित होता है, तब द्विज होता है, ऐसा द्विज और माता पिता आचार्यादि रूप गुरु, गुरु से अन्य ज्ञानी तत्त्वज्ञ प्राज्ञ, इन चारो की पूजा, सत्कार, और शौच, बाहर भीतर की पवित्रता, आर्जव=निष्कपटता=सरलता, ब्रह्मचर्य, और अहिंसा, ये सब शारीर=शरीरेन्द्रियसे साध्य तप कहे जाते हैं, उसका अनुष्ठान मुनि वर सत्यात्मा की अनुभूति के लिये करते हैं ॥१॥

जो किसी के उद्वेग भय दुःख शोक चिन्तादि का कारण नहीं हो, सो अनुद्वेगकारक, तथा सत्य=प्रमाण से निश्चितार्थ विषयक हो, प्रिय=वर्तमानसुखप्रद दृष्टार्थक हो, हित=अदृष्टार्थक परिणाममें सुखशान्ति प्रद हो, ऐसा वचन और स्वाध्याय सुष्टु अध्येतव्य वेदादि का अध्ययन=गुरु मन्त्र जप वेदवेदान्त के अभ्यास, वाङ्मय वाचनिक तप कहा जाता है ॥२॥

मन की प्रसाद प्रसन्नता निर्मलता, शान्ति, सौम्यत्व=सर्वलोकहितैषित्व=लोकप्रियता निष्कपटता, मौन=मननार्थ वाक्संयम, आत्ममनोनिग्रह, भावसंशुद्धिः=व्यवहार में अमायिकत्व=निष्कपटत्व. ये सब मानस तप कहे जाते हैं ।। ३ ।।

लौकिक फलेच्छारहित समाहित नर से परमश्रद्धा पूर्वक किये गये ये कायिकादि तीनो तप सात्त्विक कहे जाते हैं ।। ४ ।।

जो तप सत्कार=आदर=स्तुति, मान=प्रतिष्ठा और पूजा के लिये किया जाता है, तथा दम्भ पाखण्ड से लोकवञ्चनार्थक किया जाता है, सो इस संसार मे राजस तप, चल=क्षणिक फलप्रद, और अध्रुव अनिश्चित फलवाला होता है ।। ५ ।।

जो तप अविवेक जन्य मूढताजन्य दुराग्रह=हठ से और शरीरेन्द्रियमन को पीडित करके पीडा से=कष्ट से किया जाता है, तथा अन्य के उत्सादन-विनाश के लिये किया जाता है, सो तामस तप कहा गया है ।। ६ ।।

इन तपों में सात्त्विक तप ही मुनि महात्मा सत्यात्म ज्ञान के लिये करते हैं अन्य नहीं । यहां पर श्री सद्गुरुकबीर साहब का विचार है, अतएव उन्होने कहा है कि--

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप ।
जाके हृदया सांच है, ताके हृदया आप ।। १ ।।

बी० साखी० ३४९

सत्य भावना-सत्कर्म-सत्यार्जवप्रिय देवद्विजगुरु आदि के पूजन=साधुता सत्य भाषण आदि रूप सांच के तुल्य अन्य कोई ऊर्ध्वबाहुता पञ्चाग्निसेवनादिरूप तथा दम्भादि युक्त नहीं हो सकते हैं, न असद्भावन असत्कर्म असत् भाषण तुल्य पाप है, तहाँ जिसके हृदय में उक्त सांच ही बसते हैं, उसके हृदय में आप सर्वात्मा अनुभूत होता है । अतः मैं इस सात्त्विक तप अहिंसा सत्यादि की ही सिखापना शिक्षा उपदेश देता हूं, किन्तु वेदादि सत्शास्त्र में कहीं=वर्णित शिक्षा में भी कलि प्रभाव से कोई प्रतीति विश्वास नहीं करता है, कलि प्रभाव रहित कोई बिरल विश्वास करता है, सो कुशली होता है । यद्यपि "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत" इत्यादि मन्त्रादि द्वारा सर्वाधार ब्रह्म को सत्य=तपादि के विना अवेद्याऽवक्तव्य कहा गया है, तथापि सत्य तप-विचारादि से ज्ञेय ध्येय वक्तव्य है, अतः

तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली ३ में तपो द्वारा अन्नादि में ब्रह्मत्व के ज्ञान पूर्वक, आनन्दस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान का वर्णन है कि—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्,
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

तैतिरीय०।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ १॥

मुण्डक ३।१।५॥

जो ज्योतिर्मय=प्रकाशमय शुभ्र=शुद्ध सब शरीरों के अन्दर में हृदयाकाश में वर्तमान रहता है, तथापि जिसको क्षीण विनष्ट कामादि दोष वाले यति ही प्रत्यक्ष जानते हैं, वह=यह आत्मा नित्य=सत्य भाषणादि नित्य तप=मन इन्द्रिय संयम, सम्यक् विवेक विज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य से ही लभ्य प्राप्तव्य अनुभवनीय है॥ १॥

श्री सद्गुरुकबीर साहब कहते हैं कि,

सबही ते सांचा भला, जो दिल साँचा होय।
सांच बिना सुख नाहिं है, कोटि करै जो कोय॥१॥
सांचा सौदा कीजिये, अपने दिल मे जानि।
सांचे हीरा पाइये, झूठे मूलो हानि॥२॥
सुकृत वचन मानै नहीं, आपु न करे विचार।
कहहिं कबीर पुकारि के, स्वप्ने गया संसार॥३॥

बी० साखी० ६७-६६॥

सभी ज्ञान साधनों=शुभ हेतुओं में सत्योपदेश रूप वेदवेदान्तादिरूप सत्य का भाषण सतकर्म तप ब्रह्मचर्यादि भले=श्रेष्ठ साधन हैं, यदि वे

सत्य दिल=मन से श्रद्धाभक्ति पूर्वक होयँ। ऐसे सांच के विना सत्य सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है, यदि अन्य कोटि सुख के साधन किये जायँ तो भी ॥ १ ॥

अतः अपने मनमें श्रद्धा आदि पूर्वक सत्यात्मा को गुरुशास्त्रादि से प्रथम परोक्षरूप से जान कर अभ्यस्त सत्यवचन से ही सत्य सौदा (प्राप्तव्य ज्ञेय ब्रह्मात्मा) को प्राप्त करो, सुखस्वरूप का अनुभव करो, क्यों कि सत्य वचन से ही हरि हीरा=अभेद्य अमल ज्योति=हृद्यन्तरज्योति आत्मा पाया जाता है और झूठ मिथ्या भाषणादि से तो सब साधन के मूल मनुष्यता सद्बुद्धि आदि भी नष्ट हो जाती है, अतः असत्य भाषण कुप्रवृत्ति से बचो ॥ २ ॥

सुकृत=गुरुरूप पुण्यात्मा के पुण्य वचन को सर्वदोष रहित वेदवेदान्त वचन को जो नहीं मानता है, और जो स्वयं भी विचार नहीं करता है कि मैं क्या हूँ? संसार क्या है? इत्यादि सो संसारी स्वप्न में–मिथ्या संसार में ही गया और जाता है, कभी सत्य सुखशान्ति को नहीं पाता है ॥३॥ यतः–

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा,
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा,
स्तेषांसुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १ ॥
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको—
बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषांशान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ २ ॥

कठ० अ० २।२।१२–१३ ॥

जो एक=तत्तुल्याधिक रहित, वशी-स्वतन्त्र सर्वनियन्ता-सब प्राणी के अन्तरात्मा, अपने एक चिदानन्द स्वरूप को मायिक नामरूप उपाधियों द्वारा बहुधा=भेदयुक्त करता है, उसको जो कोई धीर आत्मस्थ शरीरबुद्धि में चिद्रूप से व्यक्त गुरुशास्त्रोपदेश से प्रत्यक्ष जानते हैं, निजात्मा समझते हैं, उनही को शाश्वत नित्यब्रह्मात्मानन्द स्वरूप सुख होता है, अन्य को नहीं ॥ १ ॥ जो अनित्यों देहों का नित्यात्मा, चेतन जीवों चिदाभासो का

चेतनात्मा एक होता हुआ भी बहुत प्राणियों के कामों भोगों को अनायास मायाशक्ति से सिद्ध करता है, उस आत्मस्थ को जो धीर विद्वान् आत्मस्थ स्वस्वरूप जानते हैं उनको नित्यशान्ति उपरति प्राप्त होती है, अन्य को नहीं। जिसके गुणों (शक्तियों) को गाकर वेद थकते हैं सो सर्वात्मा है ॥२॥ यतः–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ईश्– ऐश्वर्ये, वस आच्छादने, भुज-पालनाऽभिव्याहरयोः, गृधु-अभिकाङ्क्षायाम्-धातु हैं। ईश् क्विप्-ईष्टे-इट्-ईशा॥ जगती–भूमि में=सब संसार लोकों में जो कुछ वस्तु, जगत चलायमान=चञ्चल पदार्थ हैं, यह सब ईशा=ईश्वर से वास्य=आच्छादनीय-आच्छादित हैं, वह आच्छादन भी ऐसा नहीं है कि जैसे वस्त्र से शरीर का आच्छादन होता है, क्यों कि वस्त्र शरीर के अन्दर प्रविष्ट नहीं रहता है, और ईश्वर अन्तर्यामी भी आत्मा रूप से सब में प्रविष्ट रहता हैं, अतः ईश्वर से व्याप्त जगत है, यह व्याप्ति भी अग्नि से धूम की व्याप्ति के समान नहीं है, क्यों कि धूम भी अग्नि के अभाव देश में रह जाता है, और विभु ईश्वर के अभाव युक्त देश काल का ही अभाव है, अतः मृतिकादि उपादान करण से घट पटादि कार्य आच्छादित=आवृत्त, मृत्तिका तन्तु के उपलब्धि के विना अनुपलब्ध=स्वतः सत्त्व रहित घट पट रहते हैं, अतः मृत्तिका तन्तु से भिन्न असत् रहते भी जलाहरण शरीर प्रावरण रूप कार्यकारी होते हैं, तथापि स्वकीय उपादान की अपेक्षा कार्य वस्तु असत्य=मिथ्या=या कारण से भिन्न सत्यासत्यस्वरूप से अनिर्वाच्य रहते हैं। श्रुति कहती है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। वागिन्द्रिय से आरम्भ वाले नाममात्र विकार=कार्य घटादि होते हैं, अतः मिथ्या= उपादान से भिन्नाऽभिन्नादि रूप से अनिर्वाच्य हैं, कारण रूप मृत्तिका ही घटादि में सत्य है, घटादि नहीं, इसी प्रकार मृत्तिकादि भी अपने अपने कारण रूप से सत्य होते भी स्वस्वरूप से सब जगत् मिथ्या अनिर्वाच्य है, परममूल सब जगत के उपादान निमित्त कारण ईश्वर ही शुद्ध सत्य है ईश्वर की शक्ति माया भी ईश्वर के सत्य स्वरूप चिन्मात्र से भिन्नाभिन्नत्व सत्त्वासत्त्व साङ्गानङ्गत्वादिरूप से अनिर्वाच्य है, और

उसी माया द्वारा ईश्वर जगत् का उपादान कारण होता है, अतः अनिर्वाच्य माया के परिणाम विकार जगत् में अनिर्वाच्यत्व स्वभाव सिद्ध होता है। (तेन) उक्तरीति से मायामय मिथ्या होने के कारण (त्यक्तेन) जगत के अभिमान ममता सत्यत्वादि बुद्धि को त्याग द्वारा एक अद्वैत सत्यात्मा सर्वात्मा निर्गुण ब्रह्म के अनुभव से अपनी रक्षा करो। जीवन मुक्ति पूर्वक विदेहमुक्ति को सिद्ध करो।

जगतो यदुपादानं मायामादायतामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्मतद्गिरा ॥

इस पञ्चदशी वचन के अनुसार ब्रह्म निमित्तोपादानोभय कारण ज्ञातव्य ज्ञात है। तथा "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्"। ब्रह्म सूत्र १।४।२३ ।। यहाँ कहा गया है कि ब्रह्म जगत के प्रकृति = उपादान और निमित्त दोनों कारण है, तामसी माया द्वारा उपादान होता है, शुद्ध सत्व-वाली माया को ग्रहण करके निमित होता है, इत्यादि ।।

विचार यह है कि समसत्ताक एक पदार्थ अन्य के स्थान का निरोध करता है, अतः एक पत्थर मृत्पिण्ड के देश में ही उसकी स्थिति काल में अन्य पत्थरमृत्पिण्ड नहीं रह सकते हैं,क्षार जलपूर्ण एक पात्र में मधुर उतना ही जल नहीं रह सकते है, एक प्रदीप स्थान में अन्य प्रदीप, पूर्व के वायु के समदेश काल में अन्य वायु, तथा हृदयाकाश स्थान में मूर्धाकाश नहीं रहते है, परन्तु एक सत्य के सत्य कारण के स्थान में असत् कारणापेक्षया मिथ्याकार्य सर्वत्र रहते हैं, और वे कार्य अपने २ कारणों से व्याप्त रहते हैं, अतः सर्व संसार की अपेक्षा परम सत्य ब्रह्म में अनिर्वाच्य मिथ्या माया शक्ति-रहती है, क्यों कि सत् की शक्ति सत् नहीं हो सकती है, अग्नि की शक्ति अग्नि नहीं होती है, न अग्नि तुल्य सत्तावाली है, अग्नि के रहते मणि-मन्त्रादि से उत्पत्ति नाश को पाती है, इसी प्रकार ब्रह्मकी शक्ति माया आका-शादि कार्य रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है ब्रह्म सत्तामात्र से विवर्त का कारण होते भी उस रूप से उत्पन्न परिणत नष्ट नहीं होता है क्योंकि विवर्त मिथ्या होता है और ब्रह्म सत्य है, मायारूपशक्ति और आकाशादि समस्वभाव के हैं, अतः उपादान उपादेय भाव बनता है, ब्रह्म में वस्तुतः उपादानता नहीं बनती है, तथापि ब्रह्म की सत्ता से सत्य भासनेवाली मायाकी उपादानता ब्रह्मकी उपादानता श्रुति में कही जाती है। इस प्रकार मायी ब्रह्म घटादि के मृत्पिण्ड के समान कारण होने से ब्रह्म से

सब जगत आच्छादित व्याप्त है, घटादि के समान नाममात्र मिथ्या जगत है और मिथ्या व्यवहार के साधक हैं, अतः व्यवहारादि के प्रतिपादक श्रुति आदिकी प्रमाणता बनती है। व्यवहार का उच्छेद भी अज्ञान काल में नहीं होता है, इत्यादि। सब जगत के उपादान विषयक दृष्टान्त श्रुति में कहा गया है, सो अति समीचीन है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि,तथाऽक्षरात्-सम्भवतीह विश्वम्॥१॥

मुण्ड० १।१।७॥

जैसे उर्णनाभि=मकरी अन्य की अपेक्षा के विना स्वशरीरमात्र से तन्तु जाल को रचती है, और अपने शरीर में संग्रह लय करती है, जैसे पृथिवी में औषधिवृक्षादि पृथिवी मात्र से होते हैं, और सत् जीवित मनुष्य मात्र से जैसे केशरोम होते हैं, तैसे अक्षर=अविनाशी ब्रह्म ईश्वर मात्र से इस संसार में चराचर भूत भौतिक सब विश्वका=विस्तार होता है। यहाँ कोई शंका करते हैं कि मकरी भक्ष्य कीटादि की अपेक्षा करती है, भूमि बीज की अपेक्षा करती है, पुरुष भी भोज्यादि की अपेक्षा अपने कार्यों की सिद्धि में करते हैं, तैसे ही अक्षर ब्रह्म सत्य प्रकृति आदि की अपेक्षा करता ही है, अतः स्वतन्त्र सत्य कारण ब्रह्म भी नहीं है। परन्तु यह शंका अयुक्त है, अज्ञानमूलक है, क्योंकि तन्तु की सृष्टि में बाह्य भक्ष्य कीटादि की अपेक्षा मकरी को नहीं होती है, किन्तु भक्षित की होती हैं, सो मकरी भाव को ही प्राप्त रहते है, ऐसे ही बीजादि भूमिभाव-भूमिरूपता को प्राप्त होकर औषधि के हेतु होते हैं, भक्ष्यादि पुरुषभाव को प्राप्त होकर केशलोम के हेतु होते है। इसी प्रकार प्रकृति आदि भी अक्षर ब्रह्म से भिन्न सत्ता रहित होने के कारण भिन्न रूप से अपेक्षणीय=सृष्टि में ब्रह्म के सहायक नहीं हैं, अतः अद्वैत सशक्ति ब्रह्म जगत की योनि उपादान कारण है, और उससे जगत् व्याप्त है, कारण से व्याप्त कार्य कारणरूप से सत् होते भी पृथक् से स्वस्वरूप सत् नहीं रहता है, जैसे कि मृतिका रूप से घटादि के सत् होते भी पृथक् स्वरूप से घटादि असत् ही रहते हैं। अक्षर ब्रह्म सब संसार का मूल कारण है, अतः सच्चिदानन्द (अस्तिभातिप्रिय) रूप से सबका आच्छादक है, नामरूपात्मक संसार माया मात्र मिथ्या है, ब्रह्म की सत्ता से सत्य भासता है, अतः विवेक वैराग्यादि द्वारा मिथ्या संसार को त्याग कर

निज रक्षा कर्तव्य है, सो श्रुति कहती है कि "त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम" इत्यादि। काममोहादि के त्याग ही से रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं।

नाऽत्यक्त्वा सुखमाप्नोति नाऽत्यक्त्वा विन्दते परम्।
ना त्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥१॥

म० भारत

त्याग के बिना सत्य सुख कोई नहीं पाता है, न त्याग बिना परब्रह्म परमात्माका लाभ=अनुभव होता है, त्याग के बिना भय रहित होकर योग-निद्रा से शयन नहीं करने पाता है, अतः सब संसार को त्याग कर सुखी होवो ॥ १ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वै र्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥१॥

श्रीमद्भ० गीता० अ० १५।५॥

निर्मानमोहा=अभिमान और अविवेक रहित, अहंकार मोह=आसक्ति के त्यागी, सङ्ग रूप सङ्गजन्य दोषो को जीतनेवाले=सङ्ग होते भी राग-द्वेषादि के त्यागी, नित्य=सदा अध्यात्म=आत्मपरमात्मविचारचिन्तन-परायण, अनात्मचिन्तात्यागी, सर्वथा काम क्रोध लोभ के त्यागी; और सुखदुःखादि नाम वाले हर्षशोकादि द्वन्द्वों से विमुक्त, सभी द्वन्द्वों के त्यागी, अमूढ=मोहममता रहित ज्ञानी, उस अव्यय=निर्विकार अविनाशी परमपद को पाते हैं। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यादि।

श्री सद्गुरुकवीर साहब ने भी आत्मरक्षा हेतु मिथ्या के त्याग का तथा सत्य सर्वात्मा हरि=ईश्वर की भक्ति का वर्णन किया है कि—

जारहु जगका नेहरा मन बौरा हो।
जा महँ शोक संन्ताप समुझ मन बौरा हो ॥१॥
बिना नेव का देवघरा मन बौरा हो।
बिना कहगिल को ईट समुझु मन बौरा हो ॥२॥
काल बूत की हस्थिनी मन बौरा हो।
चित्र रच्यो जगदीश समुझु मन बौरा हो ॥३॥

काम अन्ध गज वशि परे मन बौरा हो ।
अंकुश सहिहौ शीश समुझु मन बौरा हो ॥४॥
तन धन सो क्या गर्वसी मन बौरा हो ।
भस्म कृमि जाके साज समुझु मन बौरा हो ॥५॥
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो ।
लीन्हो भुजा पसारि समुझु मन बौरा हो ॥६॥
छूटन की संशय परी मन बौरा हो ।
घर घर नाचे द्वार समुझु मन बौरा हो ॥७॥
ऊँच नीच जानै नही मन बौरा हो ।
घर घर खायहु डाँग समुझु मन बौरा हो ॥८॥
ज्यों सुगना नलिनी गह्यो मन बौरा हो ।
ऐसो भरम विचार समुझु मन बौरा हो ॥९॥
पढे गुणे का काजिये मन बौरा हो ।
अन्त बिलैया खाय समुझु मन बौरा हो ॥१०॥
शूने घर का पाहुना मन बौरा हो ।
ज्यों आवै त्यों जाय समुझु मन बौरा हो ॥११॥
नहाने को तीर्थ घना मन बौरा हो ।
पूजन को बहु देव समुझु मन बौरा हो ॥१२॥
बिनु पानी नल बूडि हो मन बौरा हो ।
(तुम) टेकहु राम जहाज समुझु मन बौरा हो ॥१३॥
कहहिं कबीर जग भर्मिया मन बौरा हो ।
तुम छाड़हु हरिको सेव समुझु मन बौरा हो ॥१४॥

बोजक चांचर १

स्नेह से धन के लोभ से और आपातरमणीय मणि स्त्री के लाभ से मन पीनता को प्राप्त होता है कि जिससे गुरु के मिलने पर भी विचारणा

तनुमानसा आदि ज्ञान के साधन भी नहीं होते हैं। अतः उपदेश है कि हे मन बौरा (सांसारिक स्नेहरागादि से उन्मत्त मन वाले) सांसारिक स्नेहको त्यागों, क्यों कि "मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठु, धाय ।–सा० २२" इत्यादि वर्णित रीति से स्नेह वासना के कार्य रूप शरीर सा मन्दिर होता है कि जिस में शोक सन्तापादि होते हैं, सो समझो, और शोकादि से रहित ज्ञानी होने के लिये स्नेह को त्यागो ॥ १ ॥

यह संसार और शरीर भी बिना नेव=सत्यमूल के देवघर तुल्य क्षणिक मायामय मिथ्या है, क्यों कि इसके कारण साधन बिना कहगिल के ईंट तुल्य हैं, उन भूतकर्म कला आदि को बिखरते देर बिलम्ब नहीं होता है, सो समझो ॥ २ ॥ और हाथी को बझाने में कालबूत=कलबूत की मिथ्या हस्तिनी के समान स्नेही कामी को वश में करने के लिये त्रिदेवादि जगदीशने वहुधा चित्र रचा है, सो समझो और उसके स्नेह को त्यागो ॥३॥ नहीं तो कामान्ध हाथी जैसे मनुष्य के वश में प्राप्त होता है, और शिर पर अङ्कुश का प्रहार सहता है, तैसे तुम यमादि के वश में प्राप्त होगें और यमयातनादि को सहोगे सो समझो ॥ ४ ॥ उक्त अर्थों को समझे बिना तन धन की प्राप्ति से क्या व्यर्थ गर्व करते हो, कि जिस तन धन के साज, साधन समूह, भस्म कृमि अन्त में हो जाते है ॥ ५ ॥ और स्नेह से ही मरकट के समान स्वादु वस्तु का भुजा=हाथ पसार कर लिये हो सो समझो ॥ ६ ॥ क्यों कि उसस्वादु के ग्रहण का बन्ध प्रदादि नहीं जानने के कारण वह स्वयं मूठी को खोलता नहीं है, स्वयं छूटने के संशय में प्राप्त रहता है, जिससे घर घर के द्वारो पर नाचता है, तैसे तुम स्वयं सुखी होने के संशययुक्त होकर योनियों में भटकते हो ॥ ७ ॥

अज्ञ परवश बानर ऊँच नीचादि कुछ नहीं जानता है, अतः परवश घरघर में जाकर कलन्दर के डांग–(लाठी) दण्ड का मार खाता है, तैसे तुम शुभाशुभादि के ज्ञान अशुभ के त्यागादि के बिना सब शरीरो में कर्मानुसार प्राप्त होकर यमदण्डादि सहते हो सो समझो और स्वादवश नहीं होवो ॥ ८ ॥

जैसे सुगा भ्रमवश नलिनी को सुखद मानकर पकड़ता है और परवश होता है. ऐसे स्वादु के भ्रमादि वश बन्धनों को विचारादि से समझो, अविहित स्वादु को त्यागो ॥ ९ ॥

यदि विचारादि द्वारा स्नेह स्वादु नहीं त्यागा जाय,तो पढ़ने गुनने शोचने विचारने से भी क्या कौन श्रेष्ठ फल प्राप्त किया जा सकता है, कोई नहीं, क्यों कि पढे हुए सूगे को भी कभी अन्तमें बन्धन रहते बिल्ली खा जाती है, निर्बन्ध को नहीं, तैसे ही रागादि बन्धन युक्त विद्वान को भी मोह माया नष्ट करती है, स्नेहादि रहित ज्ञानी को नहीं सो समझो ॥१०॥

क्योंकि शून्य घर के पाहुन के समान विचारादि रहित के हृदय में विद्या जैसे आती है, तैसे शीघ्र चली जाती है, संशय शोकादि का नाशरूप कर्तव्य को नहीं करती है, सो समझो ॥११॥

यदि विद्या शोकादि को नष्ट नहीं करती है तो नहाने के लिए घना=बहुत तीर्थ प्रतीत होते हैं, पूजने के लिये बहुत देव प्रतीत होते हैं, "आत्मैव देवताः सर्वाः। यह एक आत्मा स्वरूप तीर्थ देवता नहीं प्रतीत होते हैं, सो समझो ॥१२॥

उस एक सत्यात्मस्वरूप तीर्थ के ज्ञान बिना, बिना पानी के मोहात्मक संसार नदी में डूबोगे, अतः अब भी स्नेह मोहादि को त्याग कर गुरु शरण में जाकर सर्वात्मा निर्गुण राम को टेको अवलम्ब ले लो, भजो सब संसारी अनेक की सत्यता तीर्थता पूज्यता आदि के भ्रम में पड़े हैं, तुम अनेक के सत्यता आदि को त्याग कर एक हरि राम को सेवो=भजो, "भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार" बी. साखी ३७८

स्वर्ग पताल भूमि ले बारी, एकै राम सकल रखवारी ॥
पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन को चित्र ॥
जासो कियो मिताइया, सो धन भया न हित्त ॥५९॥

छाडहु पति छाडहु लबराई, मन अभिमान छूटि तब जाई ॥
जनि लो चोरी भिक्षा खाई, फिर बिरवा पलुहावन जाई ॥
पुनि सम्पति औ पति कहँ धावै, सो बिरवा संसारहि आवै ॥

झूठ झूठ कै छाडहू, मिथ्या यह संसार ।
तिहि कारण मैं कहत हूँ, जाते होय उबार ॥

बीजक-रमैनी ६० ॥

निर्गुण, निर्विकार, सत्यात्मा राम को भजना चाहिये, जिसका चिन्तन स्मरण विचार ही भक्ति है, अतः—

"मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेवगरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥
स्वात्मतत्त्वानुसंन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥१॥

विवेक चूडामणिः ।

विकार=निषिद्ध विषय=शब्दादि को त्यागना चाहिये, तथा तामसी माया के विकार–कार्य सब जगत को त्यागना चाहिये–उसमें सत्यत्व बुद्धि उसके अभिमान उसमें स्नेह रागादि नहीं करना चाहिये, क्योंकि

दृश्यमान सो विनश्यै, अदृश्यहि लखै न कोय ।
नाहीं कोइ गाहक है, जाहि मिलै सुख होय ॥

बी. साखी ३४७"

दृश्यमान=माया के विकार कार्य सब संसार विनष्ट होता है, अतः मिथ्या है, क्यों कि

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्त अवितथा इव लक्षिताः ॥१॥

इसप्रकार उत्पत्ति नाश वाले पदार्थ स्वप्न के पदार्थ=दृश्यत्रिपुटी तुल्य मिथ्या हैं, परन्तु उन्हें स्वयं त्यागे बिना अदृश्य–सर्वसाक्षी आत्मा राम को कोई विद्वान् भी नहीं लख=समझ पाता है न सुखी शान्त मुक्त होता है, अतः विकार विषय को त्यागना ही चाहिये, श्री भर्तृहरि जी ने कहा है कि

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापायमनसः ।
स्वयं त्यक्ता ह्येते समसुखमनन्तं विदधति ॥१॥

उक्त विषयों को त्याग कर जिस राम को भजना चाहिये, सो एक ही राम स्वर्ग पाताल भूमि और बारी ले (जल पर्यन्त) सकल का रखवारी=

रक्षक=स्वामी है माया रूप शक्ति द्वारा सबका कारण और पालक हैं, परन्तु उस राम की भक्ति तथा ज्ञान के बिना, सब मिथ्या कार्यादि के त्याग, अभिमान के त्याग विना पाहन हो होकर–पाहन घन मूढता को ग्रहण=प्राप्त करके सब गये और विना भित्तियों–दिबालों आश्रयों के शून्य आकाश में लोकादि के चित्रों की कल्पना करके वासना वश शून्य आकाश में गये, और जिस धन लोकादि से मिताई=प्रेम स्नेह किये, सो धनादि कोई हित=भावी सुख शान्ति भुक्ति के हेतु नहीं हुए, न होते हैं ॥५९॥

अतः श्रुति कहती है, कि "ईशावास्यमिदं सर्वम्"। ईश्वर से ही यह सब जगत् वास्य=बसाने योग्य=रक्षणीय है, इत्यादि, और कबीर साहब कहते हैं कि पति=पतित्व=धनादि के स्वामित्व को छोड़ो, धनादि को मिथ्या समझो "कस्य स्विद्धनम्" किस का धन है नहीं, शून्य में कल्पित पति को छोड़ो, जिससे वास्य जगत है, उसी को सत्य एक विभु सर्वात्मा रूप सच्चिदानन्द स्वरूप स्वामी समझो तो मन के धनादि विषयक सब अभिमान छूट जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे, कि जिससे अभिमान मोहादि मूलक जन्मादि संसार दुःख भी नहीं होंगे मुक्त हो जायेंगे। और अभिमान को त्यागने पर तेरे धनादि नहीं रहेगे ईश्वरार्पित हो जायेगें। तीसायन्त्र में कहा गया है कि

त्याग तो ऐसा कीजिये, सब कुछ एकही बार।
सब प्रभु का मेरा नहीं, निश्चय किया बिचार ॥११॥

इस अवस्था में जो संसार बनके बिरवा (वृक्ष) तुल्य मनुष्य चोरी=अन्याय से भोजन के लिये भी नहीं लेता है, किन्तु मानो ईश्वर से भिक्षा मांग कर खाता है, भोजन की वस्तु को ईश्वर अर्पण पूर्वक अतिथि आदि के प्रति प्रदान पूर्वक यज्ञशिष्ट अन्न को सदा खाता है, तो वह भोजन बिरवा मनुष्य को पलुहावने ताप तप्त को भी पनपावने=बढ़ाने के लिये जाता=प्राप्त सिद्ध होता है, कहा गया है कि "न्यायार्जित धनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथि प्रियः। श्राद्धकृत सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते।" उक्त रीति से अभिमानादि को नहीं त्यागकर जो बिरवा=मनुष्य पुनः पुनः=बार बार धन सम्पत्ति का और पतित्व=स्वामित्व का=तटस्थ=अनीश्वर=अनात्म स्वामी का ध्यान चिन्तन

ममता अभिमान काम (इच्छा) करता है, सो मरने के बाद संसार में ही आता है, योनियों में आकर गर्भवास जन्म जरा मरणादि जन्य दुःख कष्ट पाता है। अतः उस भावी सांसारिक दुःख निवृत्ति मुक्ति के लिये श्री कबीरसाहब कहते हैं कि "झूठ झूठ कै छाड़हु" संसार धनादि को स्वप्न तुल्य मिथ्या निश्चय करके इसके अभिमानादि को त्यागो, मैं इस लिये कहता हूँ कि जिससे तेरा उबार मुक्ति हो, गुरु उपदेश के बिना मिथ्या संसार की भी निवृत्ति मुक्ति नहीं होती है, अतः योगदर्शन में उपदेश है कि "हेयं दुःखमनागतम्" और श्रुति है कि "आचार्याद्धयेव विदिता विद्या साधिष्ठं साधयति" आचार्य से ज्ञान = प्राप्त विद्या अत्यन्त कुशलता को सिद्ध करती है।

अब हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय देखाय तमासा, बहुरी लेत सकेल ॥१॥
हरि बाजी सुरनर मुनि जहड़े, माया चाटक लाया।
घर में डारि सबै भरमाया, हृदया ज्ञान न आया ॥२॥
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहहिं कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी ॥१॥

बीजक शब्द ७८ ॥

हो=हे मनुष्यों, अब=सद्गुरु के उपदेशों को सुनने पर, हम सुनने वालों ने जान लिया है कि यह संसार सर्वात्मा राम हरि (ईश्वर) की बाजी (माया) के कार्य रूप खेल है=मिथ्या कौतुक मात्र है, तहाँ जैसे नट डंका=ढोल बजाकर, तमासा दिखाकर बहुरि=फिर तमासे को सकेल= समेट लेता है, तैसे ही हरि भी प्रथम वेदादि शब्दों को रच कर मिथ्या संसार की सृष्टि द्वारा प्राणियों के प्रति कर्मफल भोगरूप तमासा दिखाकर महाप्रलय में लीन करते है ॥ १ ॥ उस माया और हरि को विवेक पूर्वक जाने बिना हरि की बाजी से = माया जन्य संसार से सुरनर मुनि जहडे= भूले भटके दुःखी हुए, क्योंकि माया ने उनमें चाटक=भ्रममोह लगा दिया। फिर शरीरादि रूपघर में डार कर=अभिमान करा कर लोकादि में भर-माया (भटकाया) और चाटक वश उनके हृदय में ज्ञान भी नही आया ॥२॥ तहाँ ज्ञातव्य है कि नटकृत बाजी खेल तुल्य ईश्वर कृत संसार भी

झूठ है और बाजीगर तुल्य हरि सत्य है, किन्तु हरि की सत्ता से ही संसार में सत्यता भासती है, विवेकी साधुओं=कुशलों की ऐसी मति होती है। तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि जिनलोगों ने जैसी समझी उनकी तैसी गति हुई और होती है, अर्थात् जिसको सत्य समझते हैं, उसको पाते हैं, तहाँ ईश्वर को प्राप्ति अनुभूति से सुख शान्ति होती है, असत्य मायामय संसार को त्याग कर सत्य हरि की प्राप्तिरूप निजरक्षा कर्तव्य है। श्री भ० गीता में कहा गया है कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत् प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥२॥

अ० १८।६१-६२।

लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः ॥

कहा जाता है कि लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (अनुभूति=ज्ञान) होती है तहाँ न्यायमतानुसार "असाधारण धर्मो हि लक्षणम्" वस्तु का असाधारण=विशेष धर्म ही लक्षण होता है (द्रव्य गुण कर्म सामान्य=जाति, विशेष समवाय, अभाव, ये वैशेषिक मतानुसार वस्तु (पदार्थ) हैं, न्याय में प्रमाण प्रमेयादि शोलह प्रदार्थ माने जाते हैं, परन्तु उनका उक्तद्रव्यादि में ही अन्तर्भाव भी माना जाता है। तहाँ गुणक्रियाऽऽश्रयत्व समवायिकारणत्व, द्रव्य का लक्षण माना जाता है। द्रव्य कर्मभिन्नत्वे सति सामान्य=जाति मत्त्व, गुण का लक्षण है, द्रव्य गुणभिन्नत्वेसति जातिमत्त्व कर्म=क्रिया का लक्षण है और द्रव्यादि तीनों में सत्ता नामक व्यापक जाति मानी गई है. उसके व्याप्य द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व माने गये हैं, और उस सत्ता से पदार्थो में सत्त्व माना गया है, उस सत्ता का खण्डनखण्ड खाद्य, ग्रन्थ में में खण्डन किया गया है सो वहाँ द्रष्टव्य है, खण्डन का भाव है कि सत्य ब्रह्मोपादानकत्व से ही सब मापिकपदार्थो में सत्व की प्रतीति होती है, फिर भी सत्ता जाति आदि मानना निरर्थक सर्वथा युक्ति हीन है सत्ता से यदि सत्व हो तो सत्ता में सत्ता के अभाव से उसके असत्व द्वारा सर्वासत्वादि की प्राप्ति होगी।

द्रव्यों के विशेष लक्षण भी माने गये हैं, जैसे "गन्धवती पृथिवी[1]। शीतस्पर्शवत्यआपः।[2] उष्णस्पर्शवत्तेजः[3]। रूपरहित स्पर्शवान् वायुः[4]। शब्द गुणकमाकाशम् ॥ ५ ॥ इत्यादि"

सामान्य विशेष भेदसे दो प्रकार के गुण माने गये है, शब्द स्पर्शादि विशेष गुण कहे जाते हैं, संयोग विभागादि सामान्य गुण कहे जाते हैं। दोनों मिलकर चौवीश होते हैं, नित्यज्ञान इच्छा प्रयत्न वाला ईश्वर माना गया है, अनित्य ज्ञानादिवाले जीव माने गये हैं, निर्गुण ब्रह्म=राम का स्वीकार न्याय वैशेषिक मत में नहीं है। यह अति संक्षेप विचार है।

वेदान्त में अनात्मवस्तु के लक्षणादि विशेषरूप से नहीं किये गये हैं, क्यों कि अनात्मवस्तु प्रायः प्रत्यक्ष कोशादि से सिद्ध ज्ञात हो जाते हैं, उनके उत्पत्ति श्रुति शास्त्र के अनुसार ही ज्ञातव्य है, यह वेदान्त का तात्पर्य है, किन्तु ब्रह्मात्मा ईश्वर के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण माने गये है। जैसे लोक में अज्ञ बालक को समझाने के लिये चन्द्रमा के द्विविध लक्षण कहे जा सकते हैं, कि "प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः। वृक्षोपरिचन्द्रः" रात्रि के समय सब ताराओं से प्रकृष्ट=अधिक प्रकाशवाला जो रहता है, सो चन्द्र है, यह अधिक प्रकाश चन्द्र का स्वरूप है, सोई लक्षण है, और वृक्ष के उपर चन्द्र है, ऐसा वृक्ष ही चन्द्र का लक्षण होता है, सो चन्द्र से तटस्थ =भिन्न स्थित रहता है, तथापि तदुपरि स्थिर चन्द्र का बोधक होता है, अतः तटस्थ लक्षण कहा जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मात्मा ईश्वर के द्विविध-लक्षण श्रुति सिद्ध हैं। तथाहि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीय बल्ली २। २। ब्रह्म सत्य=अविनाशी=उत्पत्ति वृद्धि ह्रासादि रहित निर्विकार है, तथा सामान्य ज्ञान=अनुभूति साक्षिस्वरूप चिदात्मा है और अनन्त=देश-काल वस्तुकृत अन्त=विच्छेद रहित विभु सर्वात्मस्वरूप अखण्ड असङ्ग है। "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छा० अ० ७।२३" यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ७।२४" जो निरपेक्ष भूमा= वृहद्=महान्=विभु है, सो ब्रह्म ही सुख स्वरूप है, जिस स्वरूप में कोई-विवेकी ज्ञानी किसी अन्य वस्तु को सत्य नहीं देखता है, न सुनता है, न जानता है, सो भूमा "ब्रह्म" है। इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का निर्गुण सत्य स्वरूप लक्षण कहा गया है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परंध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

कठ० अ० १।३।१५ ।

जो परब्रह्म शब्दादि गुणों से रहित है, सदा ही गन्धादि रहित, तथा अनादि अनन्त, महतत्त्व से पर ध्रुव=अचल है, उसको जानकर प्राणी मृत्यु से रहित हो जाता है, यह शब्दादि रहित तत्त्वादि भी स्वरूप लक्षण है। असाधारण धर्मत्व लक्षण भी वस्तुतः स्वरूप लक्षण है, जैसे कि "गन्धवती पृथिवी" गन्धवाली पृथिवी होती है, ऐसा कथन से गन्धरूप असाधारण धर्म पृथिवी का लक्षण कहा जाता है, तहाँ गन्ध वस्तुतः पृथिवी का असाधारण स्वरूप ही सिद्ध होता है, पृथक् तत्व नहीं, तथापि भेद मान कर अतिव्याप्ति अव्याप्ति असम्भव रूप तीन दोषों के वारण से उक्त लक्षण साधु होता है, अन्यथा नहीं, तहां कहीं जल में गन्ध का प्रतीति से अतिव्याप्ति=अलक्ष्य में लक्षण की प्राप्ति होती है, उसका जल में पृथ्वी के अंश के स्वीकार से वारण होता है, पीतरङ्गयुत सुवर्ण में गन्ध का अप्रतीति से अव्याप्ति दोष का वारण तैजसांश से पार्थिवांश के अभिभूतता से होता है, सुवर्ण के भस्म में गन्ध की प्रतीति से अव्यक्त गन्ध सुवर्ण में सिद्ध होता ही है इत्यादि विस्तार युक्त विचार रूप अनात्मविचारों का वेदान्त में आदर नहीं किया गया है ॥१॥ ब्रह्मात्मा ईश्वर का तटस्थ लक्षण है कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥

तैत्तिरीय–वल्ली ३।१ ॥

जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म से ये प्रत्यक्ष भूत भूमि आदि तथा सब प्राणियों की देह उपभोग्य अन्नादि उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवित रहते है-जिसमें स्थिति पाते हैं और प्रलीन होते हुए जिसमें प्रविष्ट होते हैं, वही ज्ञातव्य विचारणीय है। यही ब्रह्म है। इसप्रकार भूतों की उत्पत्ति

ब्रह्म के तटस्थ लक्षण होता हैं, इसी का ब्रह्म सूत्र के आदि में वर्णन=उपदेश है कि=अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ १ ॥ जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥ अथ=विवेकविरागादि के अनन्तर अतः=स्वर्गादि के अनित्यत्व बोध से नित्य ब्रह्म की जिज्ञासा होती है, अतः ब्रह्म विचार कर्त्तव्य है ॥१॥ अस्य-इस जगत के जन्मादि=जन्मस्थिति विलय जिससे होते हैं, सो ब्रह्म है, इत्यादि ब्रह्मात्मा के विचार हैं । २ ॥ श्रीमद्भागवत के आरम्भ में भी इसी का विचारपूर्वक मङ्गलाचरण है कि—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ,
तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा ,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥

किसी वस्तु की कारणता का निश्चय=अन्वय और तदितर=व्यतिरेक से होता है, अतः अस्ति भाति प्रिय रूप से जगत के साथ ब्रह्म का अन्वय=सम्बन्ध है, और गगन पुष्पादि के साथ व्यतिरेक है, अतः तत्सत्वे सत्व-तदभावेऽभाव रूप अन्वय व्यतिरेक से, जिस ब्रह्म रूप पर ज्योति से इस जगत के जन्मादि होते हैं । सो ब्रह्म मायी ईश्वर रूप से सर्वार्थ=विषय के अभिज्ञ=सर्वज्ञ है, और स्वराट् स्वतन्त्र स्वयं प्रकाश है, अतएव अपने हृदय=माया शक्ति से जो आदि कवि=ब्रह्माजी के प्रति ब्रह्म=वेद को तेने=प्रदान किया है, कि जिस वेद विषयक सूरि=विद्वानों को भी मोह होता है । उस वेद को जिसने अनायास प्रदान किया है । और जैसे रेतिली भूमि में सूर्य किरण रूप तेज के सम्बन्ध से मिथ्या जल की प्रतीति रूप तेज जल मृतिका के विनिमय=विपर्यय=भ्रम होता है, तैसे ही जिसमें त्रिगुण-मय तीन लोक तीन अवस्था की सृष्टि मिथ्या अविद्या माया जन्य होती है । अतएव जो स्वकीय धाम=तेज=सर्वज्ञत्व से सदा ही निरस्त=त्यक्त कुहक=कपट=माया वाला रहता है, मिथ्या सर्ग और सर्ग के कारण के वश में जो नहीं होता है, उस सब जीव से विलक्षण परम सत्यस्वरूप ईश्वर ब्रह्म के ध्यान=चिन्तन भजन हम करते हैं, कि जिससे सर्व विघ्नों का अभाव हो ॥ २ ॥ और उक्त लक्षणों द्वारा सर्वाधिष्ठान रूप परब्रह्म निर्गुण साक्षिस्वरूप के तथा मायी ईश्वर के ज्ञान से तम तुल्य अज्ञानादि

की निवृत्तियों से अज्ञानमूलक संसार जन्मादि बन्ध की निवृत्ति हो, एतदर्थक लक्षण और मङ्गलाचरण भी हैं ॥३॥

यद्यपि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् । कठ० १।३।१५" इत्यादि श्रुति सिद्ध निर्गुण निर्विकार असङ्ग अखण्ड सर्वात्मा ब्रह्म किसी प्रकार भी कारण नहीं हो सकता है ॥ तथापि

अद्वितीयो मायया स्यन्यदिव । नृसिंहोत्तरता. ख ६॥
मायी सृजते विश्वमेतत् ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
श्वे. अ. ४.९–१० ॥
इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते । बृ. २।५।१९॥

अद्वितीयो सर्वात्मा ब्रह्म माया से अन्य=अनेक के समान होता है । माया सहित ईश्वर इस संसार की सृष्टि करता है ॥ माया को तो जगत् की प्रकृति=उपादान कारण जानना चाहिये और मायी=मायारूप शक्ति वाले को महान्=व्यापक ईश्वर जानना चाहिये । इन्द्र = ईश्वर माया रूप शक्ति से ही बहुरूपता को प्राप्त होता है ॥ इससे निर्गुण ब्रह्म में ईश्वरनिष्ठ जगत् कारणता का ही वर्णन होता है, क्योंकि ईश्वर का भी पारमार्थिक स्वरूप=सत्यात्मा निर्गुण ब्रह्म ही है और अद्भुत अनिर्वचनीय माया की ही अवस्था = अंश विशेष रूप अविद्या = अज्ञान जीवों के कारण शरीर है, सो जीवों के व्यष्टि संसार का हेतु है । तहाँ भी जीव साक्षी अन्तर्यामी आदि रूप से ब्रह्म ही कारण होता है, क्योंकि केवल जीव में विचित्र विविध लक्षण युक्त शरीरादि की रचना की शक्ति ज्ञानादि के अभाव से जीव कर्मापेक्ष ईश्वर से ही शरीरादि की रचना होती है, सो "प्रजापतिश्चरति गर्भेरन्तरजायमानो बहुधा व्यजायते" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध होता है । यद्यपि श्रुति में ब्रह्म से आकाश की आकाश से वायु की उत्पत्ति कही गई है, अतः सब जगत का कारण ब्रह्म को नहीं कहा जा सकता है, तथापि स्वकार्य में कारण की ही सत्ता से प्रवेशादि से आकाशादि में प्रविष्ट सशक्ति ब्रह्म ही आकाशादि रूप से वायु आदि

का कारण होता है, अतः सर्व जगत् के कारणत्व ब्रह्म का लक्षण युक्त है। श्रीकबीर साहब ने भी ब्रह्म के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण कहते हैं कि—

जीवरूप एक अन्तर वासा।
अन्तर जोती कीन्ह प्रकाशा ॥ बी० र० १

सब जीवों का पारमार्थिक सत्य स्वरूप=आत्मा=ब्रह्म एक=अद्वैत= अखण्ड=असङ्ग है। सो अन्नमयादि कोशों के अन्तर में तथा सब संसार के अन्तर में वासा=बसने वाला है, और सबके अन्तर की जोती प्रकाशक स्वरूप=ज्ञान स्वरूप है। अतः वह इन्द्रिय अन्तःकरणादि की तथा चन्द्र सूर्यादिका भी प्रकाश करता है स्वयं प्रकाश स्वरूप है।

जिन यह चित्र बनाइया।
सांचा सो सूत्र धारि ॥ र० २६

इत्यादि सृष्टि बोधक वचनों से तटस्थ लक्षण कहा गया है। और

जीवरूप एक अन्तर बासा।

बीजक बतावै वित्त को, जो वित गुप्ता होय।
शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय ॥
र० ३९

यहाँ एक पद और शब्द पदसे जिन श्रुतियों को सूचित=अभ्युपगम किया गया है, सो ये वक्ष्यमाण हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माऽध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
श्वेता० ६।११

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्र वत ॥
ब्रह्म विन्दु अमृत बिन्दूपनिषद् १२

एक देव=दिप्त प्रकाश=ज्ञानस्वरूप आत्मा सब प्राणियों में अज्ञान से गूढ़=आवृत है, सब में व्यापक सबका अन्तरात्मा है, कर्मो का अध्यक्ष= नियन्ता हैं सब भूतो में अधिष्ठाता रूपसे बसनेवाला है, साक्षी=साक्षाद् द्रष्टा-चेता=चेतयिता केवल=और शुद्ध निर्गुण है ॥ १ ॥ सर्व प्राणियों के एक ही आत्मा सब प्राणियों में उपाधियों द्वारा विशेष रूप से स्थिर है, अतः स्वरूप से एक चन्द्रतुल्य होते भी उपाधियों से जलचन्द्रवत् बहुधा भी दीखता है ॥ २ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चा
ऽभ्याधिकश्च दृश्यते। पराऽस्यशक्ति विविधैव
श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।

श्वेता० ६।८

उस सर्वसाक्षी सर्वात्मा के कार्य=शरीर और करण=इन्द्रिय नहीं है, न उसके तुल्य या उससे अधिक=श्रेष्ठ कोई है। तौ भी इसकी परा= उत्तम विविध शक्ति सुनी जाती है और स्वाभाविकी=मायिकी ज्ञान-क्रिया=सर्वज्ञत्वादि और बलक्रिया=सर्वाऽऽधारत्वादि सुनी जाती है। अतः माया से ईश्वरत्व, अविद्या से जीवत्व कल्पित होता है। वस्तुतः सच्चिदानन्द असङ्ग स्वरूप ही ब्रह्मात्मा रहता है, कि जिसके ज्ञान से मुक्ति होती है, अविद्या की निवृत्ति पूर्वक जन्मादि बन्ध की निवृत्ति होती है। क्योंकि—

एक हि ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक ह्वै आया।
परिचय भया जु एक ते, एक हि माहं समाया॥

बीजक साखी १३२।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत। छा०"

इस श्रुति के अनुसार महाप्रलय काल में एक सत्य ब्रह्म था, फिर "एकोऽहं बहुस्याम्" एक मै बहुत हो जाऊं, इस संकल्प के अनुसार अनन्त देव अनन्त मनुष्यादि होते हैं, फिर महा प्रलय में अनन्त एक एक हो कर, फिर अनन्त रूप होते है, तहाँ जिनको एक सत्यात्मा का परिचय=

अनुभव होता है, वे लोग एक स्वरूप में ही लीन=पुनरावृत्ति रहित हो जाते है। क्यों कि—

तौं लगि तारा जगमगे, जौं लगि उगै न सूर।
तौं लगि जीव कर्म वशी, जौं लगि ज्ञान न पूर॥
बी० सा० २१३

जब तक सूर्योदय नहीं होता है, तब तक तारे जगमगाते=प्रकाशते हैं, सूर्योदय होते ही मानो लीन अदृश्य हो जाते हैं तैसे ही पूर्ण=व्यापक आत्मा का पूर्ण=अपरोक्ष ज्ञान जब तक नहीं होता है, तभी तक जीव कर्म के वश में रहते हैं, जन्मादि पाते हैं, फिर नहीं पाते हैं। क्यों कि अज्ञान से ही सब ताप कामादिके वश होते हैं।

यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्म ज्ञान।
जिहि वैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥
बी० सा० ३४२

जिस को सर्वात्मा सत्यानन्द स्वरूप एक ब्रह्म का ज्ञान हुआ, तब उसका यह ताप तप्त मन शीतल हुआ और होता है, क्यों कि जिस वैसन्दर=कामादिरूप अग्नि से संसारी जलते हैं, सो कामादि फिर उदक तुल्य हो जाते हैं, अर्थात् एक ब्रह्म ही के सत्य निश्चित होने पर मिथ्या जगत के कामादि ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

एके काल सकल संसारा, एक नाम है जगत पियारा।
तिया पुरुष कछु कहल न जाई, सर्व रूप जग रहा समाई॥
रूप निरूप जाय नहिं बोली, हलुका गरुआ जाय न तौली।
भूख न तृषा धूप नहिं छाहीं, सुख दुख रहित रहै तिहि माहीं

अगम अपार रूप बहु, औ अरूप बहु भाय।
बहुत ध्यान कै जोहिया, नहि तेहि संख्या आय॥
बी० रमैनी ७७

एक ही माया जन्य मोह सब संसार में काल (बार बार मरणादि का हेतु) है, तथा एक ही राम माया मोहादि द्वारा सब का काल है प्रलय कारक है। वही एक नाम=एक स्वरूप=श्रुति में "एकोदेवः" इस प्रकार एक नामवाला, सब जगत का प्यारा आत्मा है।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहाज्ज्ञानेन विन्दतेऽमृतम् ॥१॥
महा भा० शा० अ० १७५।३०

अमृत मृत्यु दोनों देह में स्थिर हैं। मोह से मृत्यु ज्ञान से अमृत पाया जाता है ज्ञान से पाने योग्य जो प्रियतमात्मस्वरूप अमृत है, सो स्त्री पुरुष रूप या अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि "एक एव त्रिलोकाऽत्मा रूपादिगुणवर्जितः। योग वा० प्र० ६।२।४८।२३ रूपादि गुण रहित=तीनो लोक की आत्मा एक है, सो उपाधियों से सर्वस्व-रूप हो कर सब जगत में समाया है। क्योंकि "न स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते" श्वेता० अ० ५।१० स्त्री पुरुषादि नहीं होते भी कारण सक्ष्म शरीर द्वारा जिस २ शरीर का ग्रहण करता है। तत्तत् व्यवहारों से युक्त होता है। अत एव वह रूप रूपवान् या निरूप ही नहीं बोला जा सकता है, न हलका या गरुआ भारी तौला जा सकता है। न उसमें भूख पिपासा धूप = ताप और छाया आदि कहे जा सकते हैं। क्योंकि —

क्षुधा पिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ।
जन्ममृत्युशरीरस्य षडूर्मि रहितः शिवः॥

भूख प्यास प्राण के धर्म हैं, शोक मोह मन के हैं, जन्म मरण शरीर के हैं, आत्मा संसार के, इन षड् ऊर्मि=तरङ्गो से रहित शिव=नित्यमुक्त स्वरूप है। अतः सुख दुःखादि से रहित है, तथापि विभु होने से रूप निरूप सुखदुःखादि में भी असङ्ग साक्षी स्वरूपसे रहता है। और वह सर्वात्मा राम औपाधिक स्वरूप से अगम अपार बहुत बहुत रूपवाला है और अरूप बहुत स्वरूप से भी भासता=प्रतीत होता है और बहुत ध्यानादि करके खोजने पर भी उसकी संख्या का पता किसी को नहीं मिलता है। क्योंकि—

अस्त्यनन्तविलासात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः।
चिदाकाशोऽविनाशात्मा प्रदीपः सर्वजन्तुषु ॥
योगवा० प्र० २।१०।११

अनन्त लीलायुक्त व्यापक सर्वाधार अविनाशी चिदाकाशरूप आत्मा सभी प्राणियों में प्रदीप=प्रकाश स्वरूप है।

"असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत्।
तदात्मानं स्वयमकुरुत, तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥"

यद्वै तत्सुकृतम्, रसो वै सः
रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात्।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥
एष ह्येवाऽऽनन्दयाति।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽ
निरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।
अथ सोऽभयं गतौ भवति।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते।
अथ तस्य भयं भवति।
तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य ॥
तैत्तिरीय–२।७।११

यह प्रसिद्ध जगत्=अग्रे=उत्पत्ति से पूर्वकाल में असत्=अव्यक्त ब्रह्म स्वरूप ही था, ततः उस अव्यक्त से ही सत्=व्यक्त जगत उत्पन्न हुआ, वह अव्यक्त ब्रह्म आत्मा को ही स्वयं व्यक्त स्वरूप किया, तस्मात्=स्वयं करने से ही वह ब्रह्म सुकृत=सुन्दर कर्ता=पुण्यात्मा=सुख हेतु कहा जाता है। जो वह सुकृत ब्रह्म सो रस=मधुरादि रस तुल्य तृप्ति का हेतु=आनन्द

स्वरूप है। रस को ही लाभ=प्राप्त करके लोक आनन्द युक्त होता है, अर्थात् ब्रह्मानन्द से ही आनन्द होता है, यदि यह चिदाकाशरूप आनन्द न हो तो कौन अन्यात्=अपान क्रिया निःश्वास करे, कौ न प्राणायात्=प्राण-क्रिया उच्छ्वास करे। यह सुकृतात्मा ही आनन्द याति=सुखी करता है, जब यह साधक, इस अदृश्य=दृश्यकार्य भिन्न, अनात्म्य=मिथ्यात्मत्वेनाऽभिमत-शरीरभिन्न, अनिरुक्त=अवाच्य=अविकार, अनिलयन अनाश्रय=सर्वाधार ब्रह्म में अभय स्थिति को प्राप्त करता है, तब वह अभय को प्राप्त करता है।

जब यह अज्ञ इस ब्रह्म अदभुत अल्प भी अन्तर भेद करता है, तो उसको भय होता है। अभिन्न ब्रह्म को नहीं मान कर अल्पभेद को मानने वाले विद्वान को भी वह ब्रह्म ही भय स्वरूप भय का हेतु होता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन॥
एतं ह वाव न तपति किमहं साधुनाऽकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति, स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते॥
उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद॥

तै० २।९॥

जिस स्वयं प्रकाश ब्रह्मात्मा को प्रकाशने=कहने के लिये=प्रयुक्त=उच्चारित भी वाचक=वाक्=शब्द, जिसको प्रकाशित नहीं करके, शब्द जनित मनोवृत्ति सहित, जिसको अप्राप्त होकर निवृत्त होते हैं, क्यों कि गुण क्रियादि मान कर ही शब्द से कहा जाता है। लक्षणावृत्ति से उस आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा को जानने वाला विद्वान् किसी से डरता नहीं है, क्यों कि भेददर्शी ईश्वरादि से डरता है, ब्रह्म अभेददर्शी होता है, इस ब्रह्मज्ञ को मैं साधु=पुण्यकर्म क्यों नहीं किया, असाधु=पापकर्म क्यों कर लिया, ऐसी चिन्ता न होती है न तपाती=पीडित करती है, क्योंकि स=उक्त जो ब्रह्मानन्द के विद्वान् होता है, सो इस दोनों पापपुण्य को आत्मस्वरूप देखता है, आत्मा में इन का विलय करता है, स जो इस सर्वानन्द सर्वात्मस्वरूप आत्मा को जानता है, वह इस पाप पुण्य को भी ब्रह्मात्मा में विलय करता है, अतः उनके तापकत्व बाधित नष्ट हो जाता है।

मतान्तर से ईश्वर लक्षणादि ॥ ५ ॥

ईश्वर-कारणं पुरुषकर्माफल्यादर्शनात् ।

न्यायदर्शन सू० ४।१।१९।

गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मत्वात्कल्पान्तरानुपपत्तिः॥

न्यायभाष्य–४।१।२१॥

पुरुष (जीव) के कर्म की निष्फलता के देखने से ईश्वर स्वरूप कारण सिद्ध होता है, सो ईश्वर इच्छा प्रयत्न ज्ञानादि गुण विशिष्ट (गुणयुक्त) ही है, जीवात्मा से भिन्न आत्मा ही है। अतः ईश्वर को आत्मकल्प=आत्माकार=आत्म जातीय होने से कल्पान्तरत्व की प्राप्ति नहीं होती है। भाव है कि महाप्रलय काल के अन्त में भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति जीवों से नहीं हो सकता हैं, क्योंकि जीव विशेष कार्य=शरीर और कारण सहित होकर के ही विशेष कार्य के ही लिये कही समर्थ होते हैं, सर्वत्र नहीं, और भूत भौतिक सामान्य=सब कार्यों के लिये स्वतः कार्य करणादि रहित भी ईश्वर समर्थ रहता हैं, अतः सामान्य कार्यों के लिये सामान्य कारण ईश्वर मान्य है, अतः कहा गया है कि,

ईशस्तज्ज्ञान यत्नेच्छाकालोऽदृष्ट दिगेव च।
प्राक्प्रतिबन्धकाऽभावौ कार्ये साधारणा स्मृताः ॥

ईश्वर (१) ईश्वर के ज्ञान (२) ईश्वर के यत्न (३) ईश्वर की इच्छा (४) काल (५) अदृष्ट (६) दिशा (७) प्रागभाव (८) प्रतिबन्धकाभाव ये नव सब कार्यो के साधारण कारण माने गये हैं ॥ प्रागभाव के स्थान में कार्यानुकूल शक्ति मानना युक्त है ॥ कबीर साहब ने कहा है कि—

राम करै सो होत है, जीव किया नहिं होय।
जीव किया जो होवता, तो दुख लहै न कोय ॥१॥

साहब से सब होत है, बन्दे ते कछु नाहिं।
राई ते पर्वत करै, पर्वत राई माहिं ॥२॥

साहब तेरी साहबी, सब घट रही समाय।
ज्यों मेहदी के पात में, लाली लखी न जाय ॥३॥
पोथी पढि पढि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का, पढै सो पण्डित होय ॥४॥

परम प्रेम का विषय सर्वात्म एक अक्षर=अविनाशी ईश्वर ब्रह्म है, उसके बोधक एक ओंकार को पढ़े=जपै सो अवश्य पण्डित होता है॥ सर्वरक्षक सर्वसाक्षी स्वरूप ओंकारार्थ क्यों होता है, ऐसी जिज्ञासा हो, तो कहा जाता है कि ओंकारार्थ सर्वात्मा होते परब्रह्म सच्चिदान्द स्वरूप है, अतः अस्ति भाति परम प्रिय स्वरूप है, प्रथम कहा गया है कि "भूमैव सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। छा० ७।२३" ब्रह्म ही सुख आनन्द स्वरूप है, अन्य में सुख नहीं है, तो भी अनुकूल विषय सात्त्विक चित्त वृत्ति विशेष से उसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। अत एव इष्ट वस्तु के दर्शन=प्राप्ति=उपभोग से अभिव्यक्त आनन्द को प्रिय मोद और प्रमोद कहा जाता है। इस प्रकार श्रुति और सर्वानुभव सिद्ध सुख=आनन्द के रहते भी न्याय मत में प्रायः दुःखान्त=दुखाभाव स्वरूप ही सुख शब्दार्थ को माना जाता है अर्थात् "बाधना लक्षणं दुःखम्" पीड़ा रूप लक्षण वाला दुःख है, यह दुःख का लक्षण न्याय सूत्र में किया गया है, सुख का नहीं, अतः सुख कोई वस्तु है नहीं। अनुमान के उपयोगी, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान, नामक सोलह पदार्थ माने गये हैं। और उनके तत्व ज्ञान से मुक्ति मानी गई है। तहां प्रमाण और प्रमेय के ही अन्तर्गत अन्य चौदह पदार्थ है, क्यों कि जिसके द्वारा प्रमिति (यथार्थ ज्ञान) हो सो प्रमाण कहा जाता है, जो प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का विषय हो, सो प्रमेय कहा जाता है, अतः निश्चय ज्ञान रूप संशय फलरूप प्रयोजन वादी प्रतिवादी से निश्चित साध्य वाला दृष्टांत वादी प्रतिवादी से निर्णितार्थ रूप सिद्धान्त का प्रमेय में अन्तर्भाव है, अवयव रूप प्रतिज्ञा आदि अनुमान रूप हैं। अर्थ का अवधारण रूप निर्णयादि, तथा अनुमान का सहायक रूप तर्क (ऊहा) भी प्रमेय ही है। प्रमाणादिपूर्वक तत्वज्ञानार्थक गुरु शिष्यादि की कथा वाद कहलाती है। प्रमाणादि

पूर्वक छलजाति निग्रह स्थान द्वारा स्वपक्ष साधन परपक्ष निषेध रूप कथा जल्प कहलाती है। स्वपक्ष साधन रहित वह जल्प ही वितण्डा कहा जाता है, व्यभिचारादि दोषों के कारण साध्य का असाधक हेतु हेत्वाऽऽभास कहा जाता है। वक्ता के वचन के अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा वचन के दूषण को छल कहते हैं। व्याप्ति रहित साधर्म्य (तुल्यता) या वैधर्म्य मात्र से विरुद्ध पक्ष को सिद्ध करना जाती कही जाती है, विरुद्ध ज्ञान कुत्सित ज्ञान या प्रत्युत्तर योग्य में प्रत्युत्तर के अज्ञान को निग्रह (निरोध) का स्थान कहते हैं॥ इन सोलह पदार्थों में, आत्मा १ शरीर २ इन्द्रिय ३ इन्द्रियार्थ=विषय ४ बुद्धि=विषयोपभोग ५ मन=अन्तःकरण ६ प्रवृत्ति=मन शरीर वाक् के व्यापार ७ प्रवृत्ति का हेतु रूप राग आदि दोष ८ पुनः पुनः उत्पत्ति=बार बार मरकर देहादि के साथ सम्बन्ध रूप प्रेत्यभाव ९ प्रवृत्ति और दोष से जन्य अर्थ रूप फल १० उस फल के ही अन्दर वर्तमान पीडा रूप दुःख ॥११॥ दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप मोक्ष ॥१२॥ इन द्वादश=बारह कारण कार्य रूप प्रमेय के तत्त्व ज्ञान से वस्तुतः मोक्ष माना गया है। यद्यपि

अन्यदपि द्रव्यगुण कर्म समवायाऽभावाः
प्रमेयम तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्।

न्यायभाष्य० १।१।६

द्रव्य गुण कर्म सामान्य=जाति विशेष, समवाय=सम्बन्धविशेष भी अन्य प्रमेय हैं. उनके भेद से असंख्य पदार्थ है तथापि इन उक्त द्वादश के तत्त्व ज्ञानसे वैराग्यादि पूर्वक मोक्ष होता है। और इन के मिथ्या ज्ञान से संसार=प्रेत्यभाव होता है, अतः इन का विशेषरूप से उपदेश है। इन प्रमेयों के मिथ्या ज्ञान से दोष प्रवृत्ति और जन्म पूर्वक सांसारिक दुःख होते है, आत्मा आदि प्रमेयों के तत्त्व ज्ञान से "दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्यायसू० १।१।२" दुःखादिमें उत्तर उत्तर की निवृत्ति से पूर्व पूर्वकी निवृत्ति रूप-दुःख की निवृत्तिरूप मोक्ष होता है। तहाँ ज्ञान के कारण पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये छ इन्द्रिय, इनसे जन्य छः प्रकार के ज्ञान, ज्ञानों के छः प्रकार के शब्दादि विषय, शरीर, विषय जन्य सुख और दुःख ये इक्किश वस्तु दुःख युक्त दुःख के हेतु होने से दुःख ही हैं, इनकी अत्यन्त निवृत्ति से मोक्ष माना

गया है। यद्यपि न्यायमतानुसार परमाणुरूप नित्य मन आकाशरूप श्रोत्र की निवृत्ति नहीं हो सकती है। तथापि मोक्षकाल में इनकी दुःख जनकता की निवृत्ति हो जाने से न्याय वैशेषिक मत में उनकी निवृत्ति मानी जाती है, आत्यन्तिकी—"अहित निवृत्तिरेक-विंशति प्रभेदभिन्न दुःखहान्या" इत्यादि न्याय वार्तिक है। कि इक्किश भेदों से युक्त दुःखों की हानि=निवृत्ति से अहित की अत्यन्त निवृत्ति मुक्ति होती है। मोक्षावस्था में आनन्दरूपता आदि की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञानी के सब संचित कर्म एक जन्म को सिद्ध करते हैं, इसी मत को एकभविकवाद कहते हैं, न्यायभाष्य० अ० ४।१।६४।

"सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्ते" इत्यादि न्याय के अनुसार वह विस्तार अनात्म विचार है, वेदान्त के अनुसार ज्ञानाग्नि से संचित कर्म नष्ट होते हैं, विरुद्ध अनन्त कर्म एक शरीर संभुक्त नहीं हो सकते हैं इत्यादि।

ओम्। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। 　　तैत० उ० अ० २

अवति—रक्षति=जानाति प्राप्नोति–श्रीणात्ति, तर्पयति सर्वं स ओम्, परमात्मा परम मङ्गलात्मा भवति। सबके रक्षक सर्वज्ञ सर्वाश्रय सब के तृप्ति प्रीति कारक परमात्मा को ओम् कहा जाता है। और ओंकार तथा अथ शब्द माङ्गलिक प्रसिद्ध है।

निष्काम कर्म उपासना भक्ति से शोधित अन्तः करण वाला जिज्ञासु वर्ण स्वर-संहितादि युक्त श्रुति के सुनने पर विचारादि से ब्रह्मविद्=ब्रह्म ज्ञानी होता है, "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन हेतवः" श्रुतिवाक्यों द्वारा श्रवण करना चाहिये, उपपत्ति=युक्तियों द्वारा मनन करना चाहिये, और मनन से निश्चय करके सदा ध्यान करना चाहिये, क्योंकि ये श्रवण मनन और ध्यान ब्रह्मदर्शन के कारण है, ब्रह्म ही सर्वात्मा है अतएव श्रुति है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" वृ० अ० ४।५।६ श्रुत्यर्थ के ज्ञाता ज्ञानी गुरु के वाक्य भी श्रुति रूप होते हैं, अतः गुरु वाक्य मात्र के श्रवणादि से ब्रह्मविद् हुआ जाता है, अभ्यास से ब्रह्मविद्वर-ब्रह्मविद्वरीयान् ब्रह्मविद्वरिष्ठ हुआ जाता है, परन्तु ब्रह्मविद् भी, परम्=

परंपद=मोक्ष को प्राप्त करता है, तथा परम्=परब्रह्म को प्राप्त करता है, परब्रह्म को स्वात्मस्वरूप से अनुभव करता है। विभु ब्रह्म की ईदृक् (ऐसी ही) प्राप्ति बन सकती है, अन्यथा नहीं। "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मुण्ड. ३।२।८" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मज्ञ की ब्रह्मरूपता प्रसिद्ध है, अतः ब्रह्मविद ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा को समझता है कि जिससे जीवन्मुक्ति अवस्था में ही समूल भय राग द्वेषादि की निवृत्ति हो जाति है ॥

अविद्याहेतवः कामाःकाममूलाः प्रवृत्तयः।
धर्माधर्मौ च तन्मूलौ, देहोऽनर्थाश्रयस्ततः॥१॥
अतोऽविद्या निरोधेस्यान्निरोधोविदुषः सदा।
निःशेषं कर्म हेतुनां विकारयो तथैव तु॥२॥

ईत्यादि वार्तिक है। अज्ञानादि का निवृत्ति हीं नित्य प्राप्त पर पद परब्रह्म की प्राप्ति कही जाती है॥ सूत्र रूप उक्त वाक्य से सामान्यरूप से कथित अर्थं का ही लक्षणादि पूर्वक विशेष ज्ञान के लिये प्रथम ऋग्वेद का मन्त्र कहा गया है सो कहा जाता है कि "तदेषाऽभ्युक्ता" तत्= तस्मिन्=उक्त ब्राह्मण वाक्य के अर्थ विषयक ही यह आगे ऋग् मन्त्र कहा गया है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, योवेद निहितं गुहायाम् परमेव्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चितेति॥

सत्य=अनादि=अविनाशी = निर्विकार स्वरूप अखण्ड ब्रह्म है। ज्ञान स्वरूप, जड़ भिन्न चिन्मात्र स्वरूप बुद्धि वृत्तिरूप ज्ञान से भिन्न ब्रह्म है, क्यों कि अनन्त=देश काल वस्तुकृत परिच्छेद व्यावृति से रहित निरपेक्ष व्यापक–निरपेक्ष नित्य और सर्वात्मा सब का सत्यात्मा है, अतः किसी देश काल में और वस्तु में ब्रह्म का अभाव न है, न हुआ है, न होने वाला है, अस्ति भाति प्रिय=सच्चिदानन्द रूप से सदा सर्वत्र वर्तमान रहता है, यही ब्रह्मता सर्वात्मता है, यही ब्रह्मका=स्वरूप लक्षण है। जो सजातीय विजातीय कल्पित मिथ्या वस्तुओं से भिन्न सर्वात्मा ब्रह्मके बोध का हेतु होता हैं। उक्त लक्षणों से लक्षित ब्रह्म को जिज्ञासु परम उत्कृष्ट ब्रह्म के

ध्यान उपलब्धि के स्थान हृदयाकाश रूप व्योम=आकाशात्मक गुहा=गुप्त स्थान में निहित=स्थित स्वरूप श्रवणादि द्वारा वेद=जानता है। अपरोक्ष करता है। सो ज्ञानी सब कामों भोगों वक्ष्यभाण राजा से ब्रह्म पर्यन्त के सुखों को सह=समकाल में साथ ही क्रम के विना भोगता है, अर्थात् सुखों के भोग स्वरूप ब्रह्मानुभव को ज्ञानी समझता है, अतः सब कामों से रहित हो जाता है॥ क्यों कि विपश्चित=सर्वज्ञ ब्रह्म रूप से सब भोगों को भोग लेने पर काम रह नहीं सकता है। अतः विपश्चित ब्रह्म रूप से भोगों को भोगता है॥ तथा विपश्चिता=विदुषा ब्राह्मण=समष्टि प्राणात्मना हिरण्यगर्भेण सहैव सर्वान्कामान् विद्वानश्नुते। आदि विद्वान समष्टि प्राणात्मक हिरण्यगर्भ के साथ ही जीवन्मुक्त ज्ञानी सब कामों भोगों को भोगता है। क्योंकि समष्टि भोगों में हानि ग्लानि अशौचादि की शंका नहीं होती है॥ इस अर्थ को श्री कबीरसाहब ने कहा है कि—

कोइ राम रसिक रस पीवहुगे।
पीवहुगे सुख जीवहुगे॥
फल अलंकृत बीज न बोकला।
सुख पक्षी रस खाई॥
चूवै न बुन्द अङ्ग नहिं भीजै।
दास भवँर (सब) संग लाई॥
निगम रसाल चार फल लागा।
ता महँ तीन समाई॥
एक दूरि चाहै सब कोई।
यत्न यत्न काहु पाई॥
गये वसन्त ग्रीषम ऋतु आई।
बहुरि न तरु तर आवै॥
कहहिं कबिर स्वामी सुखसागर।
राम मगन ह्वै पावै॥१॥

बीजक॥४२॥

जो कोई सर्वात्मा राम के रसिक=प्रेमी-इच्छुक होकर, राम रस=ब्रह्मानन्द को पीवोगे=हृदयाऽऽकाशरूप गुहा में अनुभव करोगे, सो सदा सुखपूर्वक सुख स्वरूप से जीवोगे, वर्तमान रहोगे, जन्मादि संसार से मुक्त हो जाओगे। अर्थ धर्म काम तथा मोक्ष, ये चारो फल निगम=वेदरूप रसाल-आम्रवृक्ष रसखानि में लगे हैं निरूपित=प्रतिपादित हैं, उन में अर्थादि तीन समाई=समायी मायिकतायुक्त हैं, या समाय जाने वाले=विनश्वर है, एक मोक्ष रूप फल मायिकता बिनाशादि से दूर असङ्ग ब्रह्मानन्दस्वरूप अबिनाशी है, विवेकादि श्रवणादि अनेक यत्न करके कोई तीव्र मुमुक्षा वाला पाता है। स्वस्वरूप से अनुभव करता है। उस पानेवाले की दृष्टि से संसार से बसन्त=आनन्द हेतुता–चली गई, और ग्रीषम ऋतु आ गई, तथा आजाती है, ज्ञानाग्नि से संसार दग्ध तुच्छ मिथ्या सिद्ध हो जाता है, अतः वह ब्रह्मानन्द के अनुभवी फिर लोक शरीर रूप वृक्ष के पास में गर्भादि में नहीं आता है किन्तु सुखसागर स्वामी राममें मग्न होकर राम को ही पाता है, राम में लीन होता॥ १॥

उक्त ब्राह्मण और मन्त्र से वर्णित अर्थ को ही समझाने के लिये, ब्रह्म से आकाशादि की उत्पत्ति कही गई है, फिर अन्नमयादिकोशों का वर्णन किया गया है कि जिससे आकाशादि के कारणरूप से कोशरूप गुहाओं में निहित=स्थिर सर्वात्मा स्वरूप राम (ब्रह्म=ब्रह्मानन्द) को समझा=पाया जा सके। कोशों का पक्षी विशेष रूप से वर्णन फल विशेषार्थक उपासनाओं के लिये किया गया है। स्थूल देह अन्न जन्य होता है, अन्नमय है। और इस में आत्मबुद्धि से सत्यात्मा मानो आवृत्त हो जाता है, अतः कोशकारके कोश तुल्य है।१। पञ्चप्राण अन्नमय के भीतर=अन्नमय से सूक्ष्म अन्नमय में व्यापक प्राणमय कोश है।।२।। इसी प्रकार प्राणमय के अन्दर कर्मेन्दिय सहित करणरूप मन-मनोमयकोश है ।। ३ ।। उस के भीतर ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है।। ४ ।। उसके अन्दर कारण शरीर रूप आनन्दमय कोश है ।। ५ ।। ये सब इनमें आत्मबुद्धि से सत्यात्मा के ज्ञान के आवरक होते है। अतः कोश हैं। पञ्चदशी प्रकरण ३ में कहा गया है कि:—

"गुहाऽहितं ब्रह्म यत्तत् पञ्चकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्य ततः कोश पञ्चकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥ २ ॥

गुहा में स्थिर जो ब्रह्म है, सो पांच कोशों के विवेक से जानने के योग्य है। अतः पांचो कोशों को विविक्त आत्मभिन्न समझाते हैं ॥ १ ॥ स्थूल देह अन्नमय कोश है, उसके अन्दर प्राणमय है उसके अन्दर मनोमय है, उसके अन्दर विज्ञानमय है, सो कर्ता है क्यों कि--

"विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च"

विज्ञानमूलक ही यज्ञ कर्म के विस्तार होते हैं। उसके अन्दर आनन्दमय है, सो आनन्द का भोक्ता है। "आनन्दमयो ह्यानन्द भुक्। माण्डूक्य ५" ॥२॥ आनन्दमय कोशरूप जाग्रतस्वप्नके संस्कार वासनायुक्त अज्ञानरूप कारण शरीरवाला जीव सुषुप्ति के आनन्द को भोगता है। अतः कदाचित् सुषुप्ति से जाग कर वहां भोग के संस्कारवश उसके स्मरण से कहता है कि--

"सुखमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिसम्"

सुख से सोया कुछ जाना नहीं, इससे सुषुप्ति के सुख और अज्ञान दोनों का अनुभव सिद्ध होता है। इस प्रकार के वाह्य अभ्यन्तर रूप कोश रूप गुहाओं की परम्परा है॥ तैत्तिरीय श्रुति २.५ में विज्ञानमय के अन्तरात्मारूप आनन्दमयका स्वरूप लिखा है कि—

"तस्य प्रियमेवे शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद।
उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ॥

उस आनन्दमय के इष्ट वस्तु दर्शन से जन्य=अभिव्यक्त प्रिय नामक आनन्द शिर है, मोद=इष्टकी प्राप्तिजन्य आनन्द उसके दक्षिण=दहिनेपक्ष हैं। प्रमोद=इष्ट के उपभोग जन्य आनन्द=सुख=उत्तर=वामपक्ष है। और शुद्ध नित्य आनन्द उसकी आत्मा है। ब्रह्म-मायी ईश्वर, प्रतिष्ठा है, अर्थात गीता अ० १४ में कहा गया है कि--

मम योनि र्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

मम=ईश्वर सम्बन्धी=सम्बन्धवाली=ईश्वर की उपाधि आदि रूप ब्रह्म प्रकृति रूप माया सब जगत् की योनि उपादान कारण है, अतएव अपने सब कार्यों से महद् बडा है, उस में मैं=ईश्वर "एकोऽहं बहु स्याम्" एक मैं बहुत हो जाऊं, इस संकल्पादि रूप बीज का, धारण करता हूँ कि जिससे सब संसार होता है, उसी में स्थिर रहता है।

अतः आनन्दमय का भी वह माया मायी ब्रह्म प्रतिष्ठा है, तथा प्रिय मोद प्रमोदरूप कार्यातमक आनन्दमय जीवों के कारण शरीर रूप अविद्या की प्रतिष्ठा है, सो माया रूप ब्रह्मात्मक है। उक्त रीति से कार्यात्मक आनन्दमय के होने से आनन्दमय सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप नहीं कहा जा-सकता है। किन्तु उसकी आत्मा आनन्द मात्र चिदात्मा ब्रह्म है, अतः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस ब्रह्मसूत्र में भी आनन्दमय शब्द आनन्द अर्थ में लाक्षणिक प्रयुक्त है, ऐसा ही समझना चाहिये,--क्योंकि अभ्यास भी आनन्द ही का है, आनन्दमय का नहीं, फिर भी आनन्दमय को ब्रह्म कहना अनुचित है, इसी अनौचित्य को श्री कबीर साहब ने भी दर्शाया है कि—

शीर सींग कछुवों नहि वाको, पूंछ कहाँ वह पावै॥
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिर बनौरी गावै॥

बीजक शब्द २२

परम सावज लक्ष्य वाको उस ब्रह्म को शिर सिंगादि प्रधानांश नहीं है, वह निरवयव है, तो वह ब्रह्म पूछ कहाँ पा सकता है, पुच्छ वाला आनन्दमय गुहा (गुफा) स्वरूप है, उसकी आत्मा ब्रह्म स्वरूप आनन्दात्मक है। उसीमें अल्प भी भेद देखने से भय कहा गया है, अभेद-सर्वात्मत्व दर्शन से अभय कहा गया है।

"यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः"

पुरुष = देह गुहावर्ती जीवात्मा आदित्यादिवर्ती ईश्वरात्मा को एक दर्शाया गया है।

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन॥

जिससे मन सहित वाक् निवृत्त होता है; जिस में प्राप्त होकर मन सहित वाक् लौटता है, मन सहित प्राण को आत्मस्वरूप स्वयं प्रकाश उस ब्रह्म स्वरूप आनन्द को जानने वाले ज्ञानी सर्वात्मदर्शी होने के कारण किसी से भयभीत नहीं होते, हैं।

भृगुजी ने अपने पिता से ब्रह्मोपदेश के लिये प्रार्थना की, तब पिताजी ने ब्रह्म ज्ञानके लिये तप का उपदेश दिया, फिर भृगुजी ने अन्नादि को ब्रह्म समझते २ क्रम से सत्यानन्द को ही ब्रह्म समझा कि—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्" अतः न्यायविद् की "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इस वाक्य से ब्रह्म और आनन्द में भेद बुद्धि भ्रम मात्र होता है। इसी प्रकार तम को तेज के अभाव रूप भ्रम से समझते हैं, यदि तम अन्धकार सामान्य तेज का अभाव हो, तो गर्म कोठरी (गृह) में अन्धकार नहीं रहना चाहिये, तथा बाहर भी मन्द प्रकाश के साथ मन्द तम को नहीं रहना चाहिये। अतः "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे" इत्यादि श्रुति-सिद्ध तामसी महाप्रलय में भी रहने वाली माया के साक्षात्परिणाम स्वरूप अन्धकार को समझना चाहिये और पृथिवी का ही अतिसूक्ष्म विलक्षण स्वरूप समझना चाहिये, प्रकाश से अभिभूत होता है, प्रकाशाऽभाव से अभिव्यक्त होता है, जैसे तामसी माया में आवरण और विक्षेप दो शक्ति रहती है, कि जिससे सत्यात्मादि का आवरण और संसार रूप विक्षेप की रचना करती है, तैसे यह तम भी घट पटादि का आवरण और रज्जुसर्पादिकी रचना करती है इत्यादि समझना चाहिये आनन्दमय को इसप्रकार समझना चाहिये कि--जैसे कोई मनुष्य बुभुक्षित हो (भूखा हो) उस अवस्था में कोइ सुन्दर भक्ष्य भोज्य अन्न लेकर उसके सामने उपस्थित हो जाय तो उस अन्न सहित मनुष्य में प्रेम रूप सात्विक बुद्धि होती है, प्रेम के विषय को प्रिय कहा जाता है, अतः वह अन्न प्रिय होता है, वस्तुतः प्रिय सुख और सुख का साधन होता है।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात् ॥

वृ० अ० १।३।८

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मापरः प्रियः ॥ १ ॥
पञ्चदशी प्र० १२।६०॥

इत्यादि शास्त्र के अनुशार सुख स्वरूपआत्मा परमप्रिय है, आत्म सम्बन्धी सुख साधन प्रिय होते है, अतः उक्त भूखो को दृष्ट अन्न प्रिय होता है, प्राप्त होने पर मोद=हर्ष होता है, उपभुक्त होने पर प्रमोद=अधिक हर्ष होता है और धीरे धीरे क्षुधा जन्य दुःख भुल जाता है फिर वह दुःख को सर्वथा भूलने और सौषुप्त सुखके आविर्भाव के लिये यत्न करके सोता है। तहाँ प्रियादि के संस्कार सहित सौषुप्त व्यक्त सुख सहित अविद्या आनन्दमय कोश है, वह आत्मा आनन्द रूप ब्रह्म है, उसके ज्ञानी ब्रह्मविद् परतत्त्व को प्राप्त करता है कि जिससे शोक मोह-कामादि रहित, ताप पाप रहित होता है। श्री कबीर साहब ने कहा है कि—

यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जिहि वैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥१॥
वीजक साखी० ३४२

ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर यह ताप तप्त भी मन शीतल हुआ और होता है, जिस काम क्रोध पापादि वैसन्दर=अग्नि से संसारी जलते है सो ज्ञान होने पर उदक तुल्य ब्रह्म में समाता लीन होता है। श्रुति है कि—

एतं ह वाव न तपति, किमहसाधुनाकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति॥

स य एवंविनेते आत्मानं स्पृणुते,
उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते य एवं वेद।
तैत्तिरीय० २।९॥

आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जानने वाले विद्वान को ही, मैंने साधु = पुण्य कर्म क्यों नहीं किया, पाप क्यों कर लिया, ऐसी चिन्ता न तपति=तप्त उद्विग्न नहीं करती है, क्योंकि जो वैसा वह विद्वान् होता हैं, सो उन पाप पुण्य दोनों को आत्मा स्वरूप देखता है, आत्मा में अर्पण लय कर देता है जो इस प्रकार जानता है, वह इन दोनों को आत्म रूप से पालन शुद्ध कर देता है। अतः चिन्ता के कारण नहीं होते हैं॥

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। १॥

मुण्डक २।२।८

पर अवर सर्वात्मा स्वरूप उस ब्रह्म के दृष्ट=ज्ञात प्रत्यक्ष होने पर इस ज्ञानी के कामादि हृदयग्रन्थी नष्ट हो जाते हैं, सब संशय निवृत्त हो जाते हैं। और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं, आनन्द स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाते हैं॥ अतः आनन्दमय कोश भी दुःखाभाव रूप नहीं है, न उसके आत्मा ही दुःखाऽभाव रूप है, किन्तु सच्चिदात्मा ब्रह्म ही आनन्द स्वरूप है, कि जिसके ज्ञान से सुख शान्ति मुक्ति मिलती है अतः प्रथम ज्ञान साधन विवेकादि को प्राप्त करके अद्वैतात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहिये।

पुनर्विचारान्तरम्।

* ओम् राम *

कबीरं सद्गुरुं बन्दे शरणागत हितं परम्।
चिदानन्दं परं ब्रह्म सर्वाधारं महेश्वरम्॥१॥
कबीरं करुणागारं देवानां देवमव्ययम्।
शरण्यं परमानन्दं सर्वस्य सुहृदं भजे॥२॥
बन्दौं ब्रह्म अनादि को, जो सुख सत्य स्वरूप।
निराधार निर्गुण विभू, सर्वाधार स्वरूप॥१॥

सर्वशक्ति सर्वज्ञ जो, परमेश्वर भगवान्।
आवागमन विहीन अज, तिहि बन्दत हनुमान्॥२॥

उक्त रीति से दुःखाभाव रूप ही सुख है, विषय जन्य या ब्रह्मानन्दादि कुछ है नहीं, जैसे ताप भार से तप्त शान्त मनुष्य वृक्ष की छाया में भार को शिर से उतार कर बैठता है, तब कहता है कि सुखी विश्रान्त हुये, तहाँ दुःख निवृत्ति से अन्य कोई सुख नहीं मिलता है, इत्यादि किसी मन्द विचार शील का कथन है, क्यों कि भार को उतारने पर राजस तामस वृत्ति की निवृत्ति होती है, फिर कुछ सात्त्विक अन्तर्मुख वृत्ति स्वभाव से ही होती है, उसमें आत्मानन्द ही व्यक्त होता है, सो मन्दमति समझता नहीं है, भर्तृहरिजीने भी अज्ञ की चर्चा की है कि–तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिले स्वादुसुरभि, क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्। प्रदीप्ते रागाग्नी सुदृढतरमाश्लिष्यति बधुं प्रतिकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥ १॥ मनुष्य प्यास से मुख के सुखने पर स्वादु सुगन्धु युक्त जल पीता है, भूख से पीडित होने पर शाकादि सहित भात खाता है और कामाग्नि के दीप्त होने पर अपनी स्त्री का दृढतर=गाढ आलिङ्गन करता है इस प्रकार से प्यासादि व्याधि के निवारण मात्र को ही भ्रमसे सुख समझता है, योगादि के विना सत्य सुख को नहीं समझता है॥ १॥ विवेकियों के निश्चय का वर्णन किया है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥ २॥

भोग्य भोग के साधन रूप विषय अति बहुत काल तक=उषित्वा= बसकर=ठहरकर भी अनित्य होने से अवश्य जाने वाले हैं, तहां विवेक विचारादि द्वारा हेय भावी दुःख के हेतु समझकर त्यागे जायँ, या त्यागे विना स्वयं नष्ट हो जायँ, इन दोनों प्रकार से विषयों का वियोग होता

है, उस वियोग में कोई भेद नहीं है, तथापि त्यागे विना स्वतः जाते हुए विषय मन के अतुल=अनुपम परिताप के हेतु होते हैं, और स्वयं त्यागने पर अनन्त शान्ति सुख देते हैं ॥ २ ॥

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुस्तच्च परं पदम् ॥१॥
वार्तिके ॥

नाऽत्यक्त्वा सुखमाप्नोति नाऽत्यक्त्वा विन्दते परम् ।
ना त्यक्त्वा चाभयःशेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥२॥
महा भारते ॥

सब ज्ञान विरोधि कर्म द्रव्यादि का त्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है। यतः कुसङ्ग अभिमानादि को त्यागने वाले से ही वह त्यागने वाले के अन्तरात्मा रूप पर पद ज्ञेय है ॥ १ ॥

लौकिक काम वासनादि के त्याग विना न कोई सुखपाता है, न परतत्व को पाता है, न अभय हो कर सोता है, अतः सब को त्याग कर सुखी हो ॥ २ ॥

एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शश्वतं नेतरेषाम् ।१।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविदधातिकामान् ।
तमात्मास्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां
शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।२॥
कठ० अ० २।२।१२–१३ ॥

सर्व दोष दुःखादि से रहित असङ्ग सब प्राणियों के सत्यान्तरात्मा एक है, और वशी=स्वतन्त्र है, प्राणि भेद से भिन्नता रहित है। अतः इसके समान=तुल्य या अधिक कोई नहीं है। अत एव जो अविद्या अन्तः—

करण रूप उपाधियों में चिदाऽऽभास द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को बहुधा देव मनुष्यादि स्वरूप अनायास ही करता है। उस सर्वात्मा को जो धीर=विवेकी=विद्वान्, आत्मस्थ=हृदयाऽऽकाशगत बुद्धि में चैतन्यरूप से स्थिर अभिव्यक्त गुरुशास्त्र के उपदेशानन्तर साक्षात् आत्म स्वरूप से समझते हैं, उनको शाश्वत=नित्य निरन्तर वर्तमान आनन्दस्वरूप सुख प्राप्त अनुभूत होता है, अन्य अविवेकियों को नहीं प्राप्त होता है॥ १॥

जो सर्वात्मा सुखात्मा, अनित्य=शरीर इन्द्रियादि कार्यों का नित्य=अविनाशी स्वरूप है, सब कार्यों का माया द्वारा कारण और सत्ताप्रद है। सब विनश्वरों का अविनश्वर एक स्वरूप है। यद्वा नित्य माने गये आकाशादि का नित्य स्वरूप है, तथा जो चेतन ब्रह्मादि का, विषयों के प्रकाशक बुद्धि इन्द्रियादि का चेतन=ज्ञाता प्रकाशक है। अर्थात् जैसे लोहपिण्डादि को उसमें प्रविष्ट अग्नि निमित्तक दाहकत्व प्रकाशकत्व होते हैं, तैसे ही ब्रह्मादि बुद्धि इन्द्रियादिके ज्ञानित्व प्रकाशकत्व सर्वात्मनिमित्तक हैं, और जो सर्वात्मा सर्वज्ञ ईश्वर एक=असहाय होता हुआ भी वहुत अनन्त=संसारी कामी व्यवहारिक जीवों के कामों काम्यकर्मफलों को कर्मादि के अनुसार अनायास ही माया शक्ति से पृथक पृथक धारणदान करता है, उस सर्वात्मा सर्वज्ञ ईश्वर को जो धीर अपनी बुद्धि में वर्तमान समझते हैं, उन्हीं को शाश्वत नित्य निरन्तर स्वात्म स्वरूप शान्ति मुक्ति उपरति तृप्ति प्राप्त होती है, अन्य अज्ञ को नहीं॥ २॥

प्रायः न्यायज्ञ भी यज्ञदानादि विहित् कर्मजन्य धर्मपुण्य से सुख और निषिद्ध कर्म जन्य अधर्म पाप से दुःख मानते है। तथा अनन्त=असंख्य जीवात्मा, अनन्त अन्तःकरण नित्य परमाणु रूप मन मानते हैं, परमाणु रूपमानने में हेतु बताते हैं कि अनेक श्रोत्र नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के साथ विषयों के समकाल में सम्बन्ध होते भी समकाल में सब इन्द्रियों से सब विषयों का ज्ञान नहीं होता है, अतः मन परमाणु रूप सिद्ध होता है, परमाणुरूपता से अनेक के साथ समकाल में सम्बन्ध के अभाव से क्रम से सम्बन्ध होने पर क्रम से ज्ञान होता है, क्योंकि आत्मा से संयुक्त=संयोग वाले मन के इन्द्रिय से संयोग होने पर इन्द्रिय के विषय से संयोग से विषय का ज्ञान होता है, यह माना गया है। परन्तु आत्मा के विभु होने से आत्म संयुक्त मन के

सम्बन्ध के किसी इन्द्रिय के साथ सदा रहने से सदा ज्ञान होगा, कि जिससे सुषुप्ति का अभाव ही प्राप्त होगा, तो कहा जाता है कि धर्म के साथ भी मन का सम्बन्ध ज्ञान का हेतु है, इत्यादि। बुद्धि=ज्ञान १ सुख २ दुःख ३ इच्छा ४ द्वेष ५ यत्न, ६ संस्कार ७ धर्म ८ अधर्मादि आत्मा के गुण माने गये हैं।

तहाँ विचारणीय है कि अनन्त विभु आत्मा के सन्निधि=समीप में वर्तमान अनन्त मनके रहते, कौन मन किस आत्मा के है, यह निर्णय कैसे होगा, इसके बिना सब मन सब आत्मा के होगें कि जिससे कर्म धर्म बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, और लोक में सावयवपदार्थ का सावयव के साथ संयोग होता है, जैसे अङ्गुली को वृक्ष के साथ संयोग होता है, वृक्षको शरीर के साथ संयोगज संयोग होता है, अप्राप्त में प्राप्तिरूप संयोग प्रसिद्ध है, विभु आत्मा की कहाँ प्राप्ति होगी, और निरवयव मन का अव्याप्य वृत्ति संयोग किसी के साथ कैसे हो सकेगा, अतः मन की परमाणु रूपता का कथन अयुक्त है। श्रुति से भी विरुद्ध ही है, क्योंकि छान्दोग्य-अ० ६।५।४। का कथन है कि "अन्नमयं हि सोम्य मनः" और वृहदारण्यक में सप्तान्न अ० १।५। के वचन हैं कि—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत पिता।

जो प्रसिद्ध सात अन्न हैं, उन्हे मेधा=उपासना बुद्धि और तप=कर्म से शरीर इन्द्रियादि के पोषक पिता जीवात्मा ने उत्पन्न किया, उन सात अन्नो में मन वर्णित है, और काम संकल्पादिका मन रूप से वर्णन किया गया है, इससे सूक्ष्म भूतों के कार्यात्मक अनन्त वृत्ति परिणाम वाला संकोच विकाश शाली मन ही श्रुति आदि से सिद्ध होता है, उसका भी कहीं एक विषय के तरफ विशेष आकर्षण राग से सम काल में अनेक ज्ञान जनकत्व नहीं होता है, और कहीं समकाल में अनेक ज्ञान जनकत्व होता भी है, जैसे कि दौडता हुआ, मनुष्य भी मार्ग को देखता हुआ कुछ कहता हुआ किसी की बात को सुनता हुआ किसी को देने के लिये हाथ में कुछ लिया हुआ दौड़ता है, तहाँ परमाणु रूप मन कैसे सर्वत्र समकाल में व्यापार करेगा, अतः ऐसा समझना चाहिये कि—

अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ॥
कठो० अ० २।३१७

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात।
म० भारत

इत्यादि श्रुति शास्त्र के अनुसार मनुष्यों के हृदय अङ्गुष्ठमात्र के होते हैं अतः वहाँ अन्तःकरण मनरूप उपाधि वाला जीवात्मा रूप पुरुष चिदाभास भी अङ्गुष्ठामात्र कहा जाता है, परन्तु सब प्राणी के अपने २ कर्म भोग के अनुकुल हृदय होते हैं, उन सभी में जीवात्मा भ्रमण करता है, एक मनुष्य शरीरमें ही अति वचपन से अतिवृद्धावस्था तक हृदय कमल का प मिाण एकसा नहीं रह सकता है, अतः उसके अनुसार मन भी एकसा नहीं रह कर संकोच विकाश को अवश्य प्राप्त करता है। बाहर विषय के ज्ञान काल में जैसे कोई महा तालाव से नाली द्वारा पानी ले कर कियारी को पटाता=सींचता है, तैसे जीवात्मा अपने मनको नेत्र द्वारा विषय पर ले जाकर विषयका अनुभव करता है, तहाँ तालाव स्थानिय हृदयवर्ती जीवात्मा प्रमाता कहा जाता है इन्द्रियद्वारा विषय पर्यन्त अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाण होता है, विषयाकार वृत्ति प्रमिति=अनुभूति कही जाती है। अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि=जैसे कोई कोठरी=गृह खिड़की सहित हो और उसके मध्य में दीपक रखने का स्थान हो, तहाँ तेल बत्ती सहित दीपको रात्रि के समय बारने पर गृहमात्र में प्रकाश करता है, और खिड़की द्वारा बाहर भी प्रकाश करता है, समीप की वस्तु को अधिक प्रकाशता है, दूर को नहीं। इसी प्रकार प्राणियों के स्थूल शरीर गृह तुल्य है, उस के मध्य में हृदय कमल प्रदीप स्थान तुल्य है, दशद्वार खिड़की तुल्य है तहां हृदय कमल में कामादि सहित मनोमय कोश रूप तथा यज्ञ कर्मादि के हेतु विज्ञानमय कोश रूप अन्तःकरण रहता है, सो चिदात्मा से दीप्त प्रकाशित होता है, अर्थात् उसमें चिदात्मा अभिव्यक्त होता है, वह चिदाऽऽभास युक्त स्पष्ट होता है, सो दीप के टेम तुल्य जीवात्मा के व्यावहारिक स्वरूप परिच्छिन्न होते भी शरीर में दीप प्रभा तुल्य सर्वत्र प्रकाश करता है, सुख दुःख शीतोष्णादि का अनुभव करता है और

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यास्तासांमूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
कठोप० २।३।१६

उस हृदय के एक सौ एक नाडियां हैं, उनमें से एकमूर्धा-शिर पर गई है, उससे मरण काल में उर्ध्व गमन करने वाला कल्पान्त में मोक्ष पाता है, अन्य द्वारा उत्क्रमण करने वाले संसारी होते है ।

संसार में शरीरी अवस्था में वह मनबुद्धि उपाधि वाला जीव जब नेत्र द्वारा बाहर की वस्तु को देखना चाहता है, तब खिड़की द्वारा दीप प्रभा के तुल्य नेत्र ज्योति सहित मनो ज्योति निकलती है कभी चन्द्रसूर्य-मण्डल तक पहुँच कर, दूरता दोष से चन्द्रादि के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं प्रकाशित करके वितस्तीमात्र = विताभर को समझाती है, और जहां जाती है वहाँ सर्वात्मा विभु ब्रह्म उसे चेतना देता है । और बाहर कितना हूँ दूर जाती है, तो जीवन काल में हृदयको छोड़कर नहीं जाती है, यह इसका विकाशयुक्त स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिये । श्री कबीर साहब ने भी कहा है कि—

मन माया दुइ एक है, माया मन हि समाय ।
तीनि लोक संशय परी, काहि कहो समुझाय ॥१॥
इ मन चञ्चल इ मन चोर, इ मन शुद्ध ठगहार ।
मन मन कहत सुर नर मुनि, मन के लक्ष दुआर ।२॥
मन सायर मन सा लहर, बूड़े बहुत अचेत ।
कहहिं कबिर ते बाँचिहैं, जिन के हृदय विवेक ॥३॥
बीजक ।

यज्जाग्रतो दूरमुपैति दैवं तद सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजानाम् ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥२॥

शुक्लयजुर्वेद अ० ३४

जागते हुए का जो मन दूरदेश में जाता हैं, दैव=प्रकाश स्वरूप आत्म देव के ज्ञान के हेतु, तद्=वह जो मन है, कि जो सोये हुए का मन गमन के समान चल आता है, दूर गामी नेत्रादि ज्योतियों की ज्योति एक वह मेरा मन कल्याण रूप=शुभ संकल्पवाला हो ॥ १ ॥ जो मन विशेष ज्ञान का हेतु सामान्य ज्ञान हेतु रूप प्रज्ञान और चेता है, धैर्य का हेतु है तथा प्रजाओं के अन्तर अमृत ज्योति आत्म स्वरूप है, जिस के विना कोई कर्म नहीं किया जाता है वह मेरा मन शिव=शुभ संकल्प वाला हो ॥२॥ इत्यादि वेद भी संकल्प कामादि वृत्तियुक्त मन को कहता है ।

सांख्ययोगदर्शन सम्बन्धी विचार ॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडषकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥१॥

सांख्य का० २२ ।

सत्त्वरजः तमः स्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृत्ति-मूल कारण से प्रथम महान=महत्तत्त्व नामक बुद्धि होती है, उससे अहंकार अभिमान होता है, अहंकार से मन सहित दश इन्द्रिय, और पञ्च तन्मात्रा मिश्रण रहित सूक्ष्मभत पंचकात्मकसोलह का गण समूह होता है। उस षोडश के अन्दर गत पाँच तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूत होते हैं । तहाँ प्रकृति आदि की उत्त-रोत्तर स्वय प्रवृत्ति होती है, क्योंकि पुरुष=जीवात्मा चिन्मात्र उदासीन है, ईश्वर भी प्रेरकादिरूप नहीं है, इत्यादि । परन्तु यह सब विचार स्वतन्त्र विचारी का है इस मत में अहंकार के कार्य तन्मात्राऽन्तःकरण= मन और इन्द्रिय माने गये हैं, और श्रुति के अनुसार इन्द्रिय सूक्ष्म भूत कार्य ईश्वर जन्य हैं सो नैयायिकों से भी मान्य हैं और भूतों की आकाशादि की उत्पत्ति "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः । तै० २।१॥ इत्यादि से स्पष्ट आत्मा से प्रतिपादित है॥ यद्यपि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् छा० ६।२।१" इस सत् के प्रसंग से लोक में सत् रूप से

प्रसिद्ध पृथिवी जल तेज की उत्पत्ति पूर्वक उनके त्रिवृत्त करण=तीन के संमिश्रण का वर्णन है, तथापि गुणोपसंहार न्याय से तैत्तिरीयपठित-आकाश वायु का भी छान्दोग्य में सम्बन्ध होने से, आकाशवायु की उत्पत्ति के अनन्तर=बाद में अग्नि जल भूमि की उत्पत्ति सिद्ध होती है, और पाँचों के पञ्चीकरण सिद्ध होता है, सूक्ष्म भूतों से जीवों के भोग साधन सूक्ष्म शरीर होते हैं, स्थूल पञ्चीकृत भूतों से स्थूल शररी होते हैं कि जिससे पञ्च पञ्चात्मक भूतों के पचीस प्रकृतियाँ=स्वभाव सब शरीरों में उपलब्ध होती हैं, वह सब व्यवस्था भी सर्वज्ञ ईश्वर से हो सकती है पङ्गु अन्धवत्=सम्बन्ध जड़ प्रकृति उदासीन पुरुष मात्र जीवात्मा मात्र से नहीं हो सकता अतः सांख्य की प्रक्रिया रोचक मात्र है। आत्मबोध के वचन है कि

पञ्चीकृतमहाभूत सम्भवं कर्म संश्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगाऽऽयतनमुच्यते ॥१॥
पञ्चप्राण मनोबुद्धि दशेन्द्रिय समन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्ग भोगसाधनम् ॥२॥
अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ ३ ॥

पञ्चीकृत महाभूतों=स्थूल भूतों से जन्य जीव के कर्म से संचित=संगृहीत स्थूल शरीर जीव के सुख दुखों के भोग का आयतन=स्थान कहा जाता है ॥१॥ पाँच प्राण मन बुद्धि और दशेन्द्रिय युक्त अपञ्चीकृत भूत जन्य सूक्ष्म शरीर भोगों का साधन है ॥२॥ सदसदादि रूप से अनिर्वाच्य अनादि अविद्या (अज्ञान) कारण रूप उपाधि=शरीर कहीं जाती है। इन तीनों उपाधियों से अन्य आत्मा का निश्चय करना चाहिये ॥ क्यों कि ये तीनों शरीर पञ्च कोष रूप हैं, स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, सूक्ष्म शरीर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तीन कोश स्वरूप है, कारण शरीर आनन्दमय कोश स्वरूप है, कोशों का श्रुति में स्पष्ट वर्णन है ॥ अपञ्चीकृत आकाश के सत्त्वांश से श्रोत्रेन्द्रिय की रजोंअंश से वाक् नामक कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, तहाँ वाक् से शब्द उच्चारित होता है, श्रोत्र से गृहीत=ज्ञात होता है ॥१॥ वायु के सत्त्वांश से त्वगिन्द्रिय की रजोअंश से हस्त की उत्पत्ति होती है, तहाँ त्वगिन्द्रिय से स्पर्श

ज्ञान होता है, और हस्त से स्पर्श युक्त वस्तु का ग्रहण त्याग होता है, अतः एक ज्ञानेन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं। जो तेज के सत्त्वांश से नेत्र की रजोअंश से पाद की उत्पत्ति होती है, तहाँ नेत्र रूपादि युक्त गन्तव्य के ज्ञान का हेतु होता है, और पाद गमन में हेतु है, अतः नेत्र ज्ञानेन्द्रिय और पाद कर्मेन्द्रिय प्रसिद्ध है ॥३॥

जल के सत्त्वांश से रसना, की रजोंश से उपस्थ की उत्पत्ति होती है, तहाँ रसना से रस का ज्ञान होता है उपस्थ से रसात्मक मूत्र का त्याग होता है, अतः रसना ज्ञानेन्द्रिय और उपस्थ कर्मेन्द्रिय है ॥४॥

पृथिवी के सत्त्वांश से घ्राण की, रजोंश से गुदा की उत्पत्ति होती है, तहाँ घ्राण गन्ध के ज्ञान का हेतु होता है, गुदा गन्धमय मल के त्याग का हेतु होता है, अतः ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्दिय कहाते हैं ॥५॥

पाँच भूत के मिलित रजोंश से प्राण और मिलित सत्त्वांशसे अन्तः करण होते हैं, इस प्रकार के व्यवस्थित सम्बन्धादि इन्द्रियादि के आहङ्कारिक होने पर कभी नहीं हो सकता है, न व्यवस्थापक बिना हो सकता है, अतः श्रुति कहती है कि—

अकृत्स्नोहि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति,
वदन् वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ् श्रोत्रं मन्वानो मन-
स्तान्यस्यैतानि कर्मनामन्येव ॥ बृ० अ० १।४।७॥

सृष्टि से प्रथम अव्यक्त नाम रूप को ईश्वर सृष्टि काल में व्यक्त करता है, तहाँ शरीरों में जीव रूप से प्रविष्ट होकर=अन्तःकरण में चिदाभासात्मक, जीव स्वरूप होकर अकृत्स्न=अपूर्ण=परिच्छिन्न ही हो जाता है, अतः प्राणान्=प्राण के क्रिया को करता हुआ आत्मा ही प्राण नामक हो जाता है, इसी प्रकार बोलता हुआ वाक, देखता हुआ चक्षु, सुनता हुआ श्रोत्र, दृष्ट श्रुतादि का मनन=युक्तायुक्त विचार करता हुआ मन नामक आत्मा होता है, अतः वक्ता द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि नाम कर्मनिमितक सोपाधिक अवस्था में होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ आकाशादि भूतों से ही सूक्ष्म शरीर की सृष्टिपूर्वक पञ्चीकृत भूतों से स्थूल शरीर की सृष्टि होती है, अतः शरीरों में पचीस प्रकृति होती है। तहां तहां शोक १ काम २ क्रोध ३ मोह ४ और भय ५ ये पांच आकाश से होते हैं, तहाँ

शोक आकाश जन्य होता है, अन्यचार आकाश में मिले वायु आदि जन्य होते है ।। यद्यपि ये पाँचों सूक्ष्म शरीर गत मन में होते हैं, तथापि स्थूल देह में इन की अभिव्यक्ति से स्थूल के कहे जाते हैं ।।१।।

प्रसारण १ धावन २ बलन=वल ३ चलन ४ आकुञ्चन ५ ये पांच प्रकृति वायु की है, सो क्रम से मिश्रित आकाशादि जन्य शरीरों में होती है ।। २ ।। निद्रा १ तृषा=प्यास २ क्षुधा ३ कान्ति ४ आलस्य ५ ये पांच तेज की प्रकृति हैं, सो तेज मिश्रित आकाशादि जन्य क्रम से है ।। ३ ।। लार १ स्वेद २ मूत्र ३ वीर्य ४ रुधिर ५ ये पांच प्रकृति जल के हैं, सो क्रम से आकाशादि के अंशजन्य होते है ।। ४ ।। रोम १ त्वक् २ नाडी ३ मांस ४ अस्थि-हाड़ ५ ये पांच पृथिवी की प्रकृति हैं, सो भी क्रम से आकाशादि के अंश से जन्य हैं। इन का संक्षेप से इस लिये वर्णन किया गया कि श्रीकबीर साहब ने जहाँ तहाँ इस वेदान्त की प्रक्रिया को ही किसी विचित्र रूप से ग्रहण किया है अन्य का नहीं। जैसे कि पांच कोश से भिन्न आत्मा ज्ञातव्य है, सो ब्रह्म स्वरूप तक है भड़े औपाधिक है इत्यादि वेदान्त का सिन्द्धात है।

सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षु र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।। १ ।।
एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धारास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् २

कठ० अ० २।५।११=१२

सब लोक के चक्षु रूप चक्षु के अभिमानी देव रूप भी सूर्य चाक्षुष दोषों से जैसे लिप्त नहीं होते हैं। क्योंकि रागद्वेषादि को विना सत्ता मात्र से प्रकाश करते हैं, दोष का हेतु अज्ञान जन्य राग द्वेषादि होते हैं, सो सूर्य में नहीं हैं, अतः वेद मन्त्र है कि "स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसविव" इत्यादि। सूर्य के समान ही सब के बुद्धि आदि के प्रकाशक सब के अन्तरात्मा एक है, वह लोक के दुःखों से लिप्त नहीं होता है। क्यों कि वह सब में रहते भी असङ्ग अति सूक्ष्म निरवयव

होने से सबसे बाह्य पृथक है ॥१॥ जो एक वशी=स्वतन्त्र सर्वाधार है सब जिसके वश में हैं सो सर्वभूत के अन्तरात्मा अपने एक स्वरूप को अविद्या माया आदि उपाधियों से बहुधा करता है, उसको जो अपने मन शरीर में साक्षि स्वरूप से सदा वर्तमान समझता है, उसको शाश्वत=नित्य सुख होता है, अन्य को नहीं ॥ २ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥

श्वेता० ६।११

एक देव=द्योतनात्मक ब्रह्मात्मा सबभूतों में गूढ=गुप्त है, सब में व्यापक है, सबके अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष=अधिष्ठाता, सब भूत में वशने वाला साक्षी चेता=चेतयिता केवल=शुद्ध अतएव निर्गुण भी है "प्रज्ञानं ब्रह्म" ऐतरेयोपनिषद्, जिसचेतनात्मा से सब इन्द्रियजन्य विविध ज्ञान होता है, सो कूटस्थ प्रकृष्टज्ञान स्वरूप प्रज्ञानात्मा विभु एक ब्रह्मस्वरूप है। "अयमात्मा ब्रह्म" मुण्डको०। यह अपरोक्ष सब के चिदात्मा ब्रह्म है उपाधिकृत परिच्छिन्नता मिथ्या है। "तत्त्वमसि" छान्दोग्योपनिषद ६।१ हे श्वेतकेतु सृष्टि से पृथम जो एक सत अद्वित्तीय ब्रह्म ही रहता है सोई तुम हो, वही एक सत्य ब्रह्म सब जगत का सत्य जीव अविनाशी स्वरूप है उसी के ज्ञान मोक्ष सुख शान्तिप्रद है, अतः वह ज्ञातव्य है, "अहं ब्रह्मास्मि" वृ० अ० १।५।१०। सृष्टि से पृथम तथा ज्ञान की प्राप्ति से पृथम भी यह जीवका साक्षिस्वरूप ब्रह्म ही था, परन्तु उसके ज्ञानबिना अज्ञान से यदि ज्ञानयोग्य जन्म पाया और गुरु उपदेशादि से "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ देहादि स्वरूप नहीं हूँ, ऐसे ज्ञान से सर्वात्म ब्रह्म स्वरूप मुक्त हो गया और होता है, इस ज्ञान के विना समझता है, कि देवादि स्वरूप ब्रह्म हम से अन्य है, मैं उससे अन्य हूं, सो देवताओं के पशु तुल्य है। उसको देव भी ज्ञानी होना नहीं चाहते है।

इस उक्तरीति से सत्यसुख स्वरूप एक चेतनात्मा के होते भी तथा अनन्त अविद्या के सत्त्वांश सहित सत्तात्मक बुद्धि में अनन्त चिदाभास=अभिव्यक्त चिदात्मक जीवात्मा के होने से बन्धमोक्ष सुखी दुःखी आदि की व्यवस्था श्रुति के अनुसार होते भी, आस्तिक माने गये दर्शनकारों की लीला द्रष्टव्य है, तथाहि—

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतिकारे सुख संज्ञा विधीयते ॥ १॥
दुःखं कामसुखापेक्षः सुखंदुःखाऽत्य यः स्मृतः ।
दुःखनिवृत्तेर्गौणः विमुक्ति प्रशंसा मन्दानाम् ॥२॥

दुःख ही है, सुखात्मक पदार्थ नहीं है, क्यों कि दुःख की उपलब्धि होता है. दुःख से पीडित को दुःखों की उपाय से निवृति को सुख कहते हैं। काम सुख की इच्छा दुःख है, इनका नाश ही सुख है। दुःख की निवृत्ति से मोक्ष में सुख का गौण व्यवहार होता है, सो भी मन्दो के प्रति मुक्ति की प्रशंसा स्वरूप होती है ॥१॥ इससे "भूमैव सुखम्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुति और ब्रह्मानन्द आत्मानन्दवासनानन्द के प्रतिपादक पञ्चदशी आदि सभी अप्रमाण सिद्ध हुए।

जन्ममरण करणानां प्रतिनियमाद अयुगपदप्रवृत्तेश्च ।
पुरूष वहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥१॥
सांख्यकारिका० १८॥

जन्म-शरीरसम्बन्ध, मरण शरीर वियोग और दश वाह्य इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के प्रतिनियम, पृथक-पृथक व्यवस्थित होने से, सब के मरणादि एक कालादि में नहीं होने से, तथा एक काल में सब शरीर के युगपद्, साथ ही प्रवृति नहीं होने से तथा त्रिगुण के विपर्यय= भिन्नता, कोई राजस कोई तामस कोई सात्विक होते हैं, अतः इस भेद से पुरुष=चेतनात्मा के वहत्व की सिद्धि होती है॥ १॥

"न जायते म्रियते वा कदाचित्। भ० गी० अ० २।२०" यह आत्मा कभी किसी प्रकार से जन्मता मरता नहीं हैं, क्योंकि असङ्ग-निर्गुण निरवयव है, न उसमें कार्य शरीर करण का सम्बन्ध है, न गुणो का सम्बन्ध है, तो यह सांख्य का अरण्यरोदन से अन्य क्या है, जन्मादि का सम्बन्ध, स्थूल शरीर का धारण त्याग, सूक्ष्मकारण सहित उपाधि भेद से भिन्न अनन्त जीव करते है, एक ब्रह्मात्मा में ही ये अनन्त औपाधिक भेद अनादिसिद्ध है, सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहा गया है कि उपाधि भेद से भिन्नता हो तो हस्त छेदन रतन वृद्धि से भी भेद होना चहिये, सो अत्यन्त-

बालबोधन या बालभाषण है। एक महान् गृह में एक प्रकृष्ट दीप मध्यगृह-में हो, तो वह दीप एक स्थन में रहते भी गृह भर में प्रकाश करता है, खिड़की द्वारा बाहर भी प्रकाश करता है गृह के कुछ अंश बढजाय तो उसको भी प्रकाशता है, कुछ अंश गृह के निरुद्ध हो जाय तो उसमें दीप की प्रभा नहीं जायगी, परन्तु प्रदीप में भेद किसी अवस्था में नहीं होगा। इसी प्रकार हृदय स्थान में दीप तुल्य दीप्त चिदाभासात्मक अभिव्यक्त औपाधिक स्वरूप आत्मा=जीव रहता है परन्तु उसकी प्रभातुल्यज्ञानस्वरूप उपाधि के संकोच विकाश से संकोच विकाशशील है, नेत्र द्वारा तो सूर्य-चन्द्रमण्डलादि तक पहुचता है, दूरता दोष से उसको यथार्थ रूप से अनुभव नहीं कर पाता है और दीपप्रभा जैसे ज्यों ज्यों दूर में जाती हैं, त्यों त्यों मन्द होती है, तैसे ही औपाधिक चिदात्मा की प्रभा की अवस्था होती है। इससे एक शरीर गत एक जीवात्मा से व्यवस्थित प्रकार व्यवहार प्रकाशादि होते भी जीवात्मा में भेद नहीं होता है, उपाधि भेद से भेद होता है, और अखण्ड असँग निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्मात्मा में कभी किसी प्रकार भेद नहीं होता है, वही मुमुक्षु के ज्ञेय तत्त्व है। और सांख्य कारिका ६२-६३ के अनुसार अपने ही कथन के अनुसार जन्ममरणादि की व्यवस्था से पुरुष में भेद नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वहां कहा गया है कि चिदात्मा पुरुष न बद्ध होता है न मुक्त होता है न संसारी होता है, किन्तु नानाश्रया=भेद को आश्रयण करने वाली प्रकृति ही बद्ध मुक्तादि होती है, पुरुष में उपचार=अविवेकनिमित्तक बन्धादि का मिथ्या व्यवहार होता है, यहाँ अर्थ किया जाता है कि भृत्यगत जय पराजय का जैसे स्वामी में व्यवहार होता है, तैसे प्रकृति के जय पराजय का पुरुष में व्यवहार होता है, परन्तु दृष्टान्त में तो जय पराजय जन्य भोग स्वामी को होता है, यहाँ तो भोगपुरुष में नहीं होता है, अविवेक से यदि प्रकृति (बुद्धि) स्वभोग को पुरुष में समझती है, तो वह भोग भ्रम जन्य मिथ्या ही सिद्ध होता है, इस मिथ्या भोगादि के भेद से सत्य पुरुष के भेद नहीं सिद्ध हो सकता है, भेदकल्पक बुद्धि का ही उपनिषदानुसार भेद सिद्ध हो सकता है, सो "इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते बृ० अ० २।५।१९" प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते॥ शुक्लयजु० अ० ३१।१९ इन्द्र मायामय उपाधि से बहुत रूप होते हैं, प्रजापति गर्भ में प्राप्त होते हैं, और वस्तुतः सदा अजायमान होते बहुधा माया से मिथ्या जन्मते हैं,

इत्यादि श्रुतियों से वर्णित है। श्री सद्गुरु कबीर साहब ने श्रुति के अनुसार ही कहा है कि—

जीवरूप एक अन्तर वासा। अन्तर ज्योति कीन्ह प्रकाशा ॥

सब जीवों का सत्य स्वरूप=आत्मा एक है, सो अन्तर=पंच कोशादि के अन्दर में सर्वत्र वसने रहने वाला है, और अन्तर की ज्योति प्रकाश= ज्ञान=साक्षी स्वरूप है, अतएव मन इन्द्रियादि का प्रकाश किया है, इत्यादि । बीजक० र० १ ।

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तूं कहँ चला बिगोय ॥१॥

जब तुम इस वर्तमान जन्मयुक्त शरीर से मुक्त=रहीत था, तब वर्तमान शरीर के माता पिता आदि भी कोई नहीं थे, किन्तु अज्ञान था कि जिससे हौं,=अभिमान जगा=प्रगट हुआ, जिससे पांच कोश से भिन्न छठी साक्षी चितिस्वरूप को भूल कर कहाँ जा रहे है। सो समझो, मैं तैं में नहीं भूलो, ज्ञान से अज्ञान को नष्ट करो कि जिससे मुक्त होगे। विशेषार्थ बीजक टीका से ज्ञातव्य है।

तौं लगि तारा जग मगे, जौं लगि उगै न सूर।
तौं लगि जीव कर्म वशी, जौं लगि ज्ञान न पूर ॥२॥
साखी० २१३ ।

अंकुर ते बीज बीज ते अंकुर, अंकुर बिजहि सुधारै।
काया ते कर्म कर्म ते काया बिरला जन निरुवारै ॥३॥
साखी ३६०॥

अंकुर बीज के समान जन्मकर्म का प्रवाह अनादि है, तो भी पूर्ण विभु एक सर्वात्मा के ज्ञान से राग द्वेषादि के नाश से जन्मादि के प्रवाह नष्ट होता है, अतः कहा गया है कि—

यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्म ज्ञान।
जिहि वैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान ॥४॥
साखी० ३४२

एक विभु ब्रह्मात्मा के ज्ञान से यह मन शीतल=शान्त सुखी हुआ और होता है, क्योंकि जिस कुकाम कुकर्मादि अग्नि से संसारी जीव गर्भादि में प्राप्त हो कर जलते हैं, सो कामादि, पुनि-ब्रह्मज्ञान के बाद, उदक तुल्य शीतल हो जाते हैं, अर्थात् उदक=शान्त सुखस्वरूप ब्रह्म में काम कर्मादि समा जाते लीन होते हैं ॥ ४ ॥

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥१॥
मुण्डक० २।२।८ ॥

गताःकलाः पञ्च दश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वएकीभवन्ति ॥२॥
मुण्ड० ३।२।७।

हृदयगत=मनोगत काम वासनादि ग्रन्थियाँ, उसपरावर=कार्यकारण स्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म के अपरोक्ष अनुभव होने पर नष्ट हो जाते हैं, सब संशय नष्ट हो जाते है, और प्रारब्धातिरिक्त सब कर्म भी क्षीण=फलदेने में असमर्थ भृष्ट बीज तुल्य हो जाते हैं ॥ १ ॥ ज्ञानी के शरीरान्त काल में प्राणादि पन्द्रह कला अपने प्रतिष्ठा=कारणों महावायु आदि में मिल जाते हैं, इन्द्रियादि के अधिदेवरूप देवांश अपने प्रतिदेव=अंशीदेवों में मिल जाते है। अभुक्त कर्मजन्य अदृष्ट प्रथम भृष्ट बीज तुल्य होकर पर अव्यय ब्रह्म में लीन होते हैं, और विज्ञानमय उपाधिवाला जीवात्मा उपाधि के बिलय से पराव्ययमें एक हो जाता है ॥२॥ इस मोक्ष हेतु ज्ञानार्थक श्रुति आदि में वर्णित उपदेशों का ही श्री सद्गुरु कबीर साहब ने वर्णन किया है कि--

तत्त्वमसी इनके उपदेशा। ई उपनिषद् कहै सन्देशा ॥
ई निश्चय इनके बड़भारी। याहि कि वर्णन करु अधिकारी ॥
परमतत्त्वका निज परमाना। सनकादिक नारद शुकमाना ॥

यागवल्क्य और जनक सम्वादा। दत्तात्रेय वही रस स्वादा॥
वही वसिष्ठ राम मिलि गाई। वही कृष्ण उद्धव समुझाई॥
वही बात लै जनक दृढ़ाई। देहेधरे विदेह कहाई॥

वीजक रमैनी ८

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। छा० ६।१" सृष्टि से प्रथम यह जगत् अद्वितीय सत् मात्र ही था, यह उपदेश श्रुति में है, श्रीसद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि इनके=निरालम्ब स्थितिवाले ज्ञानी जनों का भी यही उपदेश ज्ञानाधिकारियो के प्रति होता है, इस उपदेश से नाम गुण क्रिया रहित का भी ज्ञान होता है॥ क्योंकि इस संदेश=परंपरागत उपदेश को परम प्रमाण रूप उपनिषद्=वेदान्त कहता है। इनके=पूर्ववर्णित निरालम्ब स्थिति=सर्वातम ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों के यही भारी प्रबल निश्चय अनुभव है कि "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि उक्त निश्चय अनुभव के लिये उपदेश दिया गया है कि—

करू विचार बिकार परिहरु, तरण तारणों सोई।
कहहिं कबिर भगवन्त भजु नल, द्वितीया और न कोई॥

वीजक शब्द ४

स्वप्न तुल्य संसार की वस्तु को कनक कामिनी को त्याग कर हिन्सा-दम्भ पाखण्डादि को त्यागकर विचार करो, और विकार=निषिद्धकर्म=माया के परिणाम रूप सव कार्यो का सर्वथा त्यागो, इनमें सत्य बुद्धि ममता आदि को छोड़ दो, विकार परिणामादि रहित सच्चिदानन्द स्वरूप एक भगवन्त को भजो, तो वह विकार के त्यागपूर्वक विचार ही तरण-तारण होगा। यह विचार किसका करना चाहिए ये विचार के विना क्या होता है। इत्यादि प्रश्नों का उत्तर है कि–

सन्तो अचरज एक भौ भारी। कहूँ तो को पातिआई॥
एकै पुरुष एक है नारी। ताकर करहु विचारा॥
एकै अण्ड सकल चौरासी। भरम भुला संसारा॥
एकै नारी जाल पसारी। जग में भया अंदेशा॥

खोजत खोजत अन्त न पाया । ब्रह्मा विष्णु महेशा ॥

हे सन्तो ! उक्त भगवान के भजन और विचार के बिना अविद्या जन्य भारी भ्रम=देहादि अनेक में आत्मत्व सत्यत्व बुद्धि हिंसादि में धर्मत्व ज्ञान कर्तव्यत्व=मांसादि में पावनत्वादि ज्ञान हुये हैं। जिनको भ्रम रूप कहने पर भी कोई विश्वास नहीं करता है। परन्तु तुम इस भ्रम की निवृत्ति के लिये, जो एक सत्य सर्वात्मा पुरुष है, और अनिर्वाच्य अद्भुत माया रूप नारी है, इन दोनों का विचार करो कि जिससे "मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावय भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१॥ इत्यादि श्रुति के अनुसार एक सत्यात्मा के ज्ञान से तथा औपाधिक माया मय भेद के ज्ञान से सत्य भेदादि के भ्रम निवृत्ति हो जाय, क्योंकि एकही सत्यात्मा सब ब्रह्माण्ड और चौरासी लाख योनियों में है, चिदात्मा पुरुष नाना नहीं है, नाना का भ्रम है, उसमें संसारी भ्रम से भूला है एक ही नारी=माया ने चित्सत्ता से संसार रूप जाल कों पसारी है, इससे अनेक सत्य का अंदेश=संशय संसार में हुआ है, यह जाल अनन्त है, इसके अन्त को खोजते खोजते ब्रह्मादि भी नहीं पाये, इस माया जाल को मिथ्या माया मात्र स्वप्न तुल्य समझकर एकात्मा के विचार आत्मा का ही अनुभव मुमुक्षु का कर्तव्य है।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोष सत्यं पीयूष वत् पिव ॥१॥
एको विशुद्ध बोधोऽहमितिनिश्चय वह्निना ।
प्रज्वाल्याऽज्ञान गहनं वीतशोकः सुखी भव ॥२॥

अष्टावक्रगीता

हे तात् ! मुक्ति चाहते हो तो विषयों को विषय तुल्य त्यागो, और क्षमा नम्रता दया संतोष सत्य को अमृत तुल्य सेवो ॥१॥ एक विशुद्ध ज्ञान स्वरूप मैं हूँ। इस अपरोक्ष ज्ञान रूप अग्नि से अज्ञान=मायामय संसार बन को जलाकर शोकरहित सुखी होओ ॥२॥ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥१॥

ब्रह्म सू० १॥ विवेक वैराग्यादि के बाद स्वर्ग सुखादि को भी अनित्य समझकर इन सबसे उपरत हो कर मुमुक्षु को ब्रह्म विचार कर्तव्य है इत्यादि उपदेशों के अनुसार ही उक्त कबीर साहब का उपदेश[1] है। स्व कल्पना मात्र नहीं॥

चित चंचलता छोड़ दे, मायाते मन फेर।
जाहिते सब कुछ भया, ताहि काह न हेर॥
साखी ३३३।

चित्त को चञ्चलता=सत्यसुखदादि बुद्धि से अनेक में भटकना को त्याग दो, और मायामय विषय कनक कामिनी से मन को फेरो=उपरत निरुद्ध करो। फिर जिस सत्य ब्रह्म से सब संसार हुआ है, उसको क्यों न हेरते=खोजते हो, उस का अन्वेषण विचार करो, उसके ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति पूर्वक मुक्त होगे, उससे तेरे अज्ञान द्वारा ही तेरे जन्मादि संसार होते हैं इत्यादि॥ इससे "जन्माद्यस्य यतः" ब्रह्म सूत्र २॥ इसका मानो व्याख्यान हुआ है।

घरहि में बाबू बढलि रारि। उठि उठि लागै चपलि नारि॥
एक बड़ि जाके पांच हाथ। पाचहुं केर पचीस साथ॥
पचीस बतावै और और। और बतावै कैउ ठौर॥
अन्तर मध्ये अन्त लेत। झकझोरि झेला जीवहि देत॥
बीजक० वसन्त २

स्थूल शरीर रूप घर के अन्दर झगड़ा बढ़ा है, तहाँ दुर्बुद्धि इन्द्रियादि चपल नारी, मानो उठ उठ कर सदा जीव से झगड़ती हैं। उनमें एक माया दुर्बुद्धि बड़ी है, उसके पांच तत्त्व=भूत पांच हाथ है, तथा पांच ज्ञानेन्द्रिय हाथ हैं, उन पांचों के पूर्व वर्णित प्रकृतियां साथ हैं, पचीसों

१—वेद वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य विषय को ही श्री सद्गुरु कबीर साहब ने प्रतिपादित किया है। किन्तु इस पृष्ठभूमि को प्रायः लोग नहीं समझ पाते हैं। वे दया के पात्र हैं।

भिन्न सुख साधनादि बताते हैं। और कितने स्थान बताते हैं, इस अन्तर में रहने वाले प्रकृति आदि के मध्य में रहने वाले जीव के ये सब अन्त= मर्म=भेद लेते रहते हैं। जीवको चंचल करके कष्ट देते हैं। अतः चञ्चलता से कष्ट से रहित होने के लिये विवेक विचारादि कर्तव्य है, और निर्गुण राम, भजनीय है, सो कहा है कि "रामनाम भजु लागु तीर" इत्यादि। यही भी वेदान्त के अभिभूत उक्त पचीस प्रकृति आदि का ही अनुमोदन किया गया है।

एक शब्द में सब कहा, सबही अर्थ विचार।
भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार ॥१॥

साखी० ३७८

एक ओंकार में वाच्य लक्ष्य रूप से वर्तमान कारण सूक्ष्म स्थूल जीव ईश्वर ब्रह्म-सर्व अर्थ कहा गया है, अतः उस एक शब्द में सब अर्थो को विचार कर समझो और निर्विकार निर्गुण-सच्चिदानन्द राम=ईश्वर ब्रह्म को भजो, विषय विकार को त्यागो ॥१॥

एके काल सकल संसारा, एक नाम है जगत पियारा।
तिया पुरुष कछु कहल न जाई, सर्वरूप जग रहा समाई।
रूप निरूप जाय नहिं बोली, हलुका गरुआ जाय न तौली।
भूख न तृषा धूप नहिं छाही, दुखसुख रहित रहै तिहि माही।

रमैनी ७७

एक माया जन्य मोह सब संसार में काल है, बार बार जन्म मरणादि कष्ट का हेतु है, अतः कहा गया है कि—

कहहिं कबीर ते उबरे, जाहि न मोह समाय।

बीजक० चांचर २

एक नाम=प्रसिद्ध राम सब जगत का प्रियतम=अति प्रिय सत्यात्माहै।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

कठ–२।५।९।

जैसे एक अग्नि भुवन में प्रविष्ट होते भी तत्तत्काष्ठादि में तत्तत्स्वरूप होती है, तैसे ही सब प्राणी के अन्तरात्मा एक है, तहाँ चिदाभास द्वारा तत्तत्स्वरूप होते भी सबसे बाहर असङ्ग है, वही प्रियतमात्मा सर्वात्मा होने से स्त्री पुरुष कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता है, तथापि सर्वस्वरूप वाले जगत में प्रविष्ट व्याप्त हो रहा है, रूपवान् या निरूप ही नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों की आत्मा है, न बोला जा सकता है, सुख स्वरूप होते भी सुखदु:खादि से रहित होते भी द्वन्दों में है।

उक्त एक सर्वात्मा राम के ज्ञानादि के बिना जन्मादि रूप संसार अवश्य होता है, अतः कहा गया है कि--

रामु रा चली बिनावन माहो, घर छोड़े जात जोलाहो।
गज नव गज दश गज उनइस की, पुरिया एक तनाई ।
सात सूत नव गांठ बहत्तर, पाट लागु अधिकाई।
बीजक शब्द २९

उक्त राम स्वरूप रा-रै-धन के बिना, तथा राम के और उस के ज्ञान के साधन शम दमादि रूप सम्पत्ति के बिना, प्राणी की बुद्धि सदा संसार बन माहो, बन में ही चली है, और चलती है, जब चलती है, तब जो घर प्रथम से लब्ध प्राप्त रहता है, उसको छोड़ कर चलती है, उसमें लौट कर नहीं आती है। या बुद्धि के चलने पर कर्म के ताना बाना करने वाला जीव जुलाहा भी घर छोड़कर जाता है। फिर=पांच प्राण चार अन्तःकरण रूप नव गज दश इन्द्रिय रूप दशगज के समूह रूप उनइस गज की पुरिया=पुर निवास स्थान रूप स्थूल शरीर स्थान बनाता है, सूक्ष्म शरीरात्मक उनइस तत्त्व के आश्रय=आवरण पट रूप स्थूल शरीर को जीव कर्मानुसार रचता है, जिसमें सात धातुमय सात सूत नव प्रधान नाड़ी रूप नव गांठ लगते हैं। और बहत्तर से भी अधिक जिसमें पाट लगते हैं। अर्थात बहत्तर कोटि दश हजार एक सौ एक नाड़ी के पाट लगते हैं। इस शरीर में मायिक मिथ्या ही दुःखद विस्तार है। अतः उपदेश है कि—

छाडु पसार राम भजु बौरे, भव सागर कठिनाई।

मन माया के पसार=विस्तार रूप शरीरादि के अभिमान ममता कामादि को छोड़ दो, और राम को निर्गुण ब्रह्म को भजो=विचारो चिन्तन करो। नहीं तो भवसागर में कठिनाई होती है, इस बचन में भी उपनिषद् वेदान्त की प्रक्रिया का वर्णन है। अन्य का नहीं।

कहु हो अम्बर कासो लागा। चेतन हारा चेतु सभागा॥
अम्बर मध्ये दीशै तारा। एक चेतु दुज चेतवन हारा॥
जो खोजो सो उहवाँ नाहीं। सोतो आहि अमर पद माहीं॥
कहहिं कबिर पद बूझै सोई। मुख हृदय जाके एके होई॥

बीजक शब्द ९४

इस शब्द से पूर्व वर्णित ज्योतियों का ज्योति स्वरूप जो जीवों का एक सत्यात्मा है, सो अम्बर-आकाश तुल्य असंग व्यापक है, तथा वस्त्र तुल्य आच्छादक है उस पारमार्थिक स्वरूप से सम्बोधन करके विवेकी के प्रति यह उपदेश है कि—हे अम्बर=चिदाकाश स्वरूप सबका आच्छादक जीवात्मन तुम कहो और समझो कि किससे लगे हो सम्बद्ध हो, अर्थात् तेरा स्वरूप असंग है, अतः तुम किसी से लगे नहीं हो। तुम ही सब को चेतने जानने प्रकाशने वाले हो, सो चेतो=हे सभागे सो समझो, यदि कहो कि मेरा स्वरूप एक चिदाकाश है तो जीवेश्वर गुरु शिष्यादि क्या है, तो सुनो कि जैसे इस आकाश में अनन्त तारे दीखते हैं, उनमें कोई स्वयं प्रकाश है, कोई अन्य से प्रकाशित होता हैं, जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है, चन्द्र सूर्य से प्रकाशित होते हैं, तैसे हो विभु चिदाकाश में शुद्ध सत्त्व प्रधान माया में चिदाभासादि स्वरूप ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है, मलिन सत्त्व युक्त अविद्या माया मे चिदाभासादि स्वरूप जीव होते हैं, उनमें फिर ज्ञानी अज्ञानी आदि भेद होते हैं, वहाँ अज्ञानी चेतते हैं, ज्ञानी चेताते हैं, ईश्वर चेताते हैं जीव चेतता है, सब व्यवहार इनमें होते हैं, व्यवहार से पर जिस मोक्ष नित्य सुख को तुम खोजते हो, सो भी उहवां किसी परोक्ष परलोक में नहीं है, किन्तु वह अमर पद=अविनाशी स्वरूप में अविनाशी स्वरूप ही है "भूमैव सुखम्" ब्रह्म ही सुख है, यह श्रुति कहती है, किन्तु उस सुख स्वरूप को वही समझता है कि जिसके मुख और हृदय एक होते हैं, अर्थात् छल कपटादि रहित होकर सत्य वक्ता होता है सो गुरु

से ज्ञान पाता है, अन्य नहीं "सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा" इत्यादि श्रुति कहती है।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥

सब प्राणी के सत्यात्मा एक ब्रह्म ही है, सो तत्तत् भूतों में विविधा चिदाभास रूप से स्थिर है। अतः स्वरूप से एकधा=एकचिदानन्द स्वरूप होते भी माया अविद्या आदि उपाधि से वहुधा=बहुत प्रकार के सुखी दुःखी ज्ञानी अज्ञानी आदि प्रतीत होता है जैसे चन्द्रमा के एक होते जलगत चन्द अनेक होता है ॥ १ ॥ ब्रह्म सूत्र अ० २ । ३ । अ० १० । से प्रथम जीवों की प्रवृत्ति को ईश्वराधीन कहने पर शंका हुई कि जीव ईश्वर से भिन्न है कि अभिन्न है, तो कहा गया है कि "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्। श्वेता० ४। १" इत्यादि श्रुति के अनुसार ईश्वर के अंशतुल्य जीव हैं, फिर शंका हुई कि स्थूल देह सहितावस्था में तो जीव दोपादि के समान परस्पर तथा सूर्य तुल्य ईश्वर से भिन्न रहते है ही। परन्तु स्थूल शरीर रहित अवस्था में सब ईश्वर में पर ब्रह्म में मिलजाते होगें क्योंकि ब्रह्म ही इन का पारमार्थिक स्वरूप है, अतः देह रहितावस्था में सब के कर्मादि के व्यतिकर=संमिश्रण हो जाने से सर्गकाल में विभाग पूर्वक सुख दुःखादि नहीं होगें, इसका उत्तर दिया गया है कि "असन्ततेश्चाव्यतिकरः। अध्याय २। ३ सू० ४९" कर्ता भोक्ता जीवों के पारमार्थिक स्वरूप के एक व्यापक होते व्यावहारिक स्वरूप की असन्तति=अन्य नहीं है, अतः कर्मादि का व्यतिकर नहीं होता हैं, क्योंकि स्थूल देहरहित होने मात्र से जीवब्रह्म स्वरूप नहीं हो जाते है, बुद्धि आदि उपाधि भेद से विदेह मोक्ष पर्यन्त भिन्न हीं रहते है। वह असन्तत जीवों का व्यावहारिक स्वरूप क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि "आभास एव च। अ० २। ३। ५०" अन्तःकरण में विभु चिदात्मा की अभिव्यक्ति रूप चिदाभास ही वह असन्ततस्वरूप है, सो अज्ञानमूलक उपाधि भेदसे भिन्न २ है, एकात्मज्ञानसे अज्ञान की निवृत्ति से इस जीव की मुक्ति होती है। ब्रह्मसूत्र अ० ३। २। ५। ११ यहां निर्गुण सगुणादि उभय स्वरूप ब्रह्म के बोधक श्रुतियों से उभय सत्य स्वरूपता की शंका होने पर कहा गया है कि— न स्थानतोऽपि परस्यो

भयलिङ्ग सर्वत्र हि। ३।२।५।११ एक वस्तु में स्वरूप से तो विरुद्ध उभय लिङ्ग होही नहीं सकते है, स्थान भेद उपाधि भेद से भी परमात्मा ब्रह्म में उभय लिङ्ग=चिन्हादि सत्य नहीं हो सकते है, सो सर्वत्र ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति में प्रसिद्ध है। अर्थात् निर्गुण निर्विशेष विभु असङ्ग सत्य स्वरूप एक है। और सगुणस विशेष ससङ्ग औपाधिक स्वरूप अनेक है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥कठो० ४।१०।

यह मन से हो प्राप्त ज्ञात करने योग्य है, इसमें नाना=सत्यभेद कुछ नहीं है, जो नाना के तुल्य भी समझता है, तो सदा जन्म मरणादि पाता है। "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ब्रह्मसू० अ० ३।२।५।१८" अत एव=ब्रह्म के पारमार्थिक निर्विशेषता निर्गुणता एकता के ही कारण ब्रह्मात्मा की वहुरूपता में सूर्यादि तुल्यता की उपमा दी जाती है, ज्योति स्वरूप एक सूर्य जलयुक्त वहुत पात्र में बहुधा होते हैं, ऐसे ही एक सत्यब्रह्म नाना उपाधियों में नाना होता है। अतः सत्यात्मा ऐक है नाना नहीं। उसके ज्ञान के लिये उपदेश है कि--

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन हेतवः॥ १॥
न सांख्येन योगेन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मुक्ति सिध्यति नान्यथा॥ २॥

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः वृ० २।४।५" इत्यादि श्रुति के उपदेशानुसार, ज्ञानी गुरु के वाक्यों से आत्मा श्रोतव्य है, उपपत्ति–युक्ति से मन्तव्य है, मन न=विचार करके सदा ध्येय है। क्योंकि ये ही श्रवण मनन ध्यन आत्मज्ञान के हेतु हैं॥ १॥ न सांख्य से न योग से न कर्म से न चतुर्दश-विध विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु उक्तश्रवणादि द्वारा विभुसर्वात्मा की एकता से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक मुक्ति होती हैं॥ २॥ सांख्ययोग से मुक्ति के अभाव में कारण को श्रुति कहती है कि—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्यादि और "कर्मणा बध्यते जन्तुः" काम युक्त कर्म से प्राणी बन्धन पाता है।

कर्मणा मृत्युमृषयोनिषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानः ।
अथाऽपरे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः ॥१॥

प्रजा वाले द्रव्य के इच्छुक ऋषि भी कर्म से मृत्युपाये, उनसे अन्य निष्काम आत्मज्ञ ऋषि हुए सो कर्मसाध्य सब कार्य=फलों से अन्य अमृतत्व को पाये ॥ १ ॥ और विद्या से अमृतत्व के अभवा में श्रीनारद श्रीसनत्कुमारजी के सम्वाद को देखना चाहिये श्रीनारद जी ने अपने को सर्वविद्या के पारांगत कहते हुऐ भी आत्मज्ञान के बिना शोकित का कथन किया है। और श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने कहा है "कि वाग्वैखरी शब्दझरी, शास्त्र व्याख्यान कौशलम्। वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥ १॥ शब्द के झरी=प्रवाह रूप वैखरी=उच्चारित वाक्=वाणी, शास्त्र के व्याख्यान में कुशलता, तथा विद्वानों में विद्वत्ता, आत्मज्ञान के बिना ये सब भोग के हेतु होते हैं, मोक्ष के नहीं ॥ १ ॥ श्री कबीर साहब ने कहा है कि—

पढे गुणे का कीजिये मन बौरा हो ।
अन्त विलैया खाय ममुक्षु मन बौरा हो ।

बीजक चाचर

मनके बौरा रहते तोता के समान पढगुन कर भी अपना कुछ भी शुभ शान्ति सुख नहीं कर सकते हो, क्योंकि बन्धन युक्त पढे तोता को कभी विलाई खाती है, तैसे मोहादि युक्त विद्वान् को कामादि के मोह-ममता रूप माया नष्ट करती है ॥ एक सत्यात्मवाद व्यावहारिक भेद आभासवाद का वर्णन श्री सद्गुरु कबीर साहब ने किया है कि—।

हौं सबन में हौं ना हौं मोहि ।
बिलग बिलग बिलगाई हो ।
ओढन मोरा एक पिछौरा ।
लोग बोलु एकताई हो ।
एक निरन्तर अन्तर नाहीं ।
ज्यों घट जल शशि झाँई हो ।

एक समाना समुझत नाहीं।
जरा मरण भ्रम जाई हो ॥

बीजक कहरा० १०

इससे प्रथम नवम कहरा के अन्त में कहा गया है कि एक सत्यात्मा राम के भजन के बिना सभी सयानप=चतुरता ऊनी=तुच्छ=हीन=न्यून है। तहाँ जिज्ञासा हुइ कि वह एक रामकौन है. उसके भजन से क्या होता है, तब निज सर्वात्मस्वपता के आशय से कहते हैं कि हौं=मैं, सवन में हौ रहौं, संसार में व्यापक हैं. अर्थात् मेरा सत्यस्वरूप ही सबका सत्य स्वरूप है, क्योंकि सब में भी ना=परमपुरुष स्वरूप हूं, तथा असंग अखण्ड होने से सब में रहते भी किसी में भो मैं नाहूं नहीं हूँ। ऐसा होते भी मुझे अविद्यादिकी उपाधियों ने विलग विलग विलगाया है। अनन्त भेदयुक्त किया है, क्योंकि ओढन आच्छादक एक पिछौरा=चादर रूप अविद्या माया है, उसीसे भेद होता है, तथापि ज्ञानी लोग तो एकता ही बोलते हैं, वह एकता भी सांख्यादि के समान जाति आदि कृत नहीं है, न वृक्षों की वनरूपता के समान है, किन्तु एक निरन्तर=सर्वथा भेद छिद्रादि रहित होने से मुझ में अन्तर=किसी प्रकार का भेद नहीं है, तौ भी जैसे अनेक घट जल में अनेक चन्द्र की झाई=प्रतिबिम्ब होते हैं, तैसे अनेक अन्तःकरण में चिदाभास अनेक हैं। तहां सब में एक समान=तुल्य सत्य स्वरूप ज्ञान से आत्मा में जन्मादि के भ्रम अज्ञान की निवृत्ति से मुक्ति होती है परन्तु उसको अविवेकी अनेकमतवाद में पड़ा हुआ कोई नहीं समझता है कि जिससे जरामरणादि का भ्रम निवृत्त हो, मुमुक्षु को उक्त राम के भजन=विचारादि द्वारा सर्वात्मा राम को जानना चाहिये कि जिससे सर्व भ्रम निवृत्ति पूर्वक मुक्ति अवश्य हो।

* ओम् राम *

योगचर्चा

यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाऽप्ययौ ॥२॥

कठोप० ६।११।१२

यदा=जिस समय=जिस अवस्था में ज्ञान वैराग्य अभ्यासादि से मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिय स्थिर हो जाती हैं। बुद्धि भी विरुद्ध चेष्टा=व्यापार नहीं करती है। तब उस अवस्था को इन्द्रियादि की निश्चलता को परम गति ज्ञान के उत्तम साधन कहते हैं ॥१॥ उस लयादि विघ्न रहित स्थिर धारणा को योगी योग मानते हैं, और उस योग के आरम्भादि में योगी अप्रमत्त सावधान होता है, सो होना ही चाहिये, क्योंकि योग, प्रभव अव्यय=उत्पत्ति नाश को प्राप्त होता है, तहाँ नाश के अभाव के लिये अप्रमाद चाहिये ॥२॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् विद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्र योगो लयश्चैव हठोऽसौ राज योगतः ॥१॥

योगतत्त्वोपनिषद् ।

हे ब्रह्मन् व्यवहार भेद=साधन भेद से योग बहुधा भिन्न होता है। मन्त्र जप से मन्त्र योग, सदा ईश्वर चिन्तन से लय योग, हठयोग, राज योग के ये भेद हैं ॥१॥

ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं भवबन्धविभेदकम् ।
तत्रैकचित्तता योगो मुक्तिदो नाऽत्र संशयः ॥१॥
अद्वैतं सांख्यमित्याहु योगस्तत्रैकचित्तता ।
अद्वैतयोग सम्पन्नास्ते मुच्यन्तेऽतिबन्धनात् ॥३॥

गरुड़ पु० १।अ० २२४।३२६

ब्रह्म को प्रकाशने=निरावरण करने वाला ज्ञान भवबन्ध=मोहकामादि को नष्ट करने वाला होता है, उस ब्रह्म ज्ञान में एकाग्रता=ब्रह्मनिष्ठतारूप योग मुक्ति प्रद है, इसमें संशय नहीं ।।१।। अद्वैतज्ञान को सांख्य कहते हैं, उस अद्वैत में एकाग्रता योग है, जो अद्वैत और योग से सम्पन्न हैं, सो अति बन्धन=संसार से मुक्त होते हैं ।।२।।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।।१।।
निर्विण्णानां ज्ञानं योग न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्ण चित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।।२।।
यदृच्छया तु मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्ति योगोऽस्य सिद्धिदः ।।३।।
श्री भागव० स्क–११।२०–६–७।।

मनुष्यों के शुभ के विधान की इच्छा से मैंने तीन योग कहा है। जो ज्ञान कर्म भक्ति नामक हैं, इनसे अन्य कहीं शुभ का उपाय=साधन नहीं हैं ।।१।। कर्म विषयक विराग युक्त संन्यासियों के लिये यहाँ ज्ञान योग है, कर्मो से अविरक्त चित वाले कामियों के लिये कर्मयोग है ।। यह इच्छा= दैवयोग से मेरी कथा आदि में उत्पन्न श्रद्धा वाला जो मनुष्य न अति-विरक्त है, न अति आसक्त है, उसको भक्ति योग सिद्धि देता है ।। ३ ।।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः ।
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।।
योगद० पा० २।१–२।।

योग के अनुकूल तप, प्रणवादि का जप मोक्ष शास्त्र का अध्ययन रूप स्वाध्याय, सब कर्मो का ईश्वर में अर्पण रूप ईश्वर प्राणिधान, ये सब क्रियायोग=कर्मयोग कहे जाते हैं। सो सदा निष्कामता पूर्वक करने से चित की शुद्धि आदि द्वारा समाधि के साधन के लिये होता है, और अविद्यादि क्लेशों को तनु=शक्तिहीन करने के लिये होता है ।।

नाहं कर्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१॥
कूर्म पुराणे

मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु यह सर्व कर्म कार्य जगत को ब्रह्म ही मन से करता है, इस निश्चय को तत्त्वदर्शी ऋषियों ने ब्रह्मार्पण–ईश्वरार्पण कहा है ॥१॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
गीता अ० २।४८॥

हे धनञ्जय ! अर्जुन ममता काम अभिमानादि रूप सङ्ग=सम्बन्ध= आसक्ति को त्याग कर सब कर्मो के फलों की सिद्धि असिद्धि में, सम= हर्ष विषाद रहित, "योगस्थः मनः" कर्मयोग में स्थिर निश्चय धैर्ययुक्त होता हुआ विहित सब स्वकर्म करो, क्योंकि कर्मफल की सिद्धि असिद्धि में समता ही योग कहा गया है ॥१॥

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृतेः ।
तस्माजोगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२॥
भग० गी० अ० २।५० ॥

समता बुद्धि युक्त मनुष्य पुण्य पाप दोनों को यहां त्यागता है (ज्ञान द्वारा नष्ट करता है) अतः प्रारब्ध कर्म से अन्य कर्म के भोग के लिये उसके जन्मादि नहीं होते हैं, अत एव तुम योग के लिये यत्न करो । वह योग कर्मों में कुशलता (फलेच्छा के बिना स्वकर्म में तत्परता=तथा समता बुद्धि से वन्धप्रद को मोक्ष हेतुता का सम्पादन) ही योग=कर्मयोग है । इस उक्त रीति से नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म तथा श्रौत स्मार्त कर्म भी निष्काम भाव, ईश्वरार्पण भाव से करने पर कर्म योग होते हुए अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञानप्रद मोक्ष प्रद होते हैं । इसका संक्षेप से वर्णन ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र से किया गया है, और श्रीकबीर साहब ने ९ नवमी रमैनी के अन्त में इसी कर्मयोग का वर्णन किया है।

अर्थ विहुनी समरी नारी । परजा समरे पुहुमी भारी ॥

नारी तुल्य अनेक वशवर्ती कर्मी अर्थ=कर्म फल से विहून=रहित होने पर कम करते हुए कर्म फल की इच्छा नहीं करने पर समरता= सुधरता=शुद्ध होता है । श्रुति विहित ओंकार रामादि की उपासना के कार्य कारण ब्रह्म की उपासनाओं के प्राणादि उपासनाओं के स्थान में इतिहास पुराणों में बहुधा भक्ति वर्णित है, सो भी निष्काम सात्त्विक होने पर योग रूप होती हैं, अन्यथा सांसारिक फलों के हेतु होते हुए कर्म के समान ही बन्ध प्रद होती हैं ॥

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥१॥
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२॥
श्रीमद्भा० स्क० ९।५।२३–२४॥

परमात्म सम्बन्धी कथा नाम गुण यश आदि का श्रवण, कीर्तन (कथन गानादि) विष्णु=व्यापक परमात्मा का स्मरण, नाम का जप, सद्गुरु गुरुआदि रूप विष्णु के पाद का सेवन, अर्चन=पूजन, वन्दना,= स्तुति, दास भाव, मित्र भाव, आत्मसर्पण, ये नवलक्षण वाली भक्ति विष्णु भगवान में अर्पण पूर्वक=फलेच्छा रहित, श्रद्धा=सत्य भावना युक्त की जाती है तो मैं उत्तम अध्ययन समझता हूं ॥१–२॥

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छा० २।२३।१॥
एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीडः । छा० ७।२५।२॥

ब्रह्मात्मा में सम्यक् स्थिति प्रीति वाला मुक्ति पाता है ॥ आत्मा ही देवादि स्वरूप है, इस प्रकार से जानने वाला आत्मा ही में क्रीडा रति– प्रीति वाला होता हुआ स्वतन्त्रचारी=जीवन्मुक्त होता है। सामवेद में इन्द्रदेव की वृहद् स्तुति आदि वर्णित है, सो सब वैदिकी भक्ति स्वरूप ही है ॥ नारदीय सूत्र—

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥
सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ॥२॥
पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥३॥
कथादिष्विति गर्गः ॥४॥
आत्मरत्यविरोधेन शाण्डिल्यः ॥५॥
नारदस्तु तदर्पिताऽखिलाचारता
तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥६॥

अथ कर्मशुद्धिके अनन्तर=तदन्तर भावी भक्ति का व्याख्यान करेंगे ॥१॥ जो भक्ति इस सर्वात्म स्वरूप परमात्मा में परम प्रेमस्वरूपा होती है ॥२॥ पूजा आदि में अनुराग=प्रेम स्वरूप पाराशर्य=व्यास जी कहते हैं ॥३॥ कथा कीर्तनादि में अनुराग रूप गर्ग कहते हैं, ॥४॥ आत्मरति से अविरोध युक्त कथा आदि में अनुराग स्वरूप शाण्डिल्य कहते हैं ॥५॥ ईश्वर में सर्व आचार=कर्म का अर्पण तथा उसके विस्मरण में परम व्याकुलता रूप नारद कहते हैं ॥६॥

सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ।
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम् ॥१॥
व्याख्यातृत्वं मद् वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ।
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा ॥२॥
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ॥३॥
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥४॥
वाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा ।
अष्टमं, नवमं तत्व विचारो मम भामिनि ॥५॥
एवं नव विधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥६॥

अध्यात्म रामायण आरण्य सं० १०

यहाँ सत्सङ्ग भक्ति का प्रथम साधन कहा गया है ॥१॥ मेरी कथा का गान दूसरा साधन है ॥२॥ मेरे गुणों का गान तीसरा साधन है ॥३॥ मेरे वचनों की व्याख्यान कर्तृता चौथा साधन है ॥४॥ हे भद्रे ! कपट के विना ईश्वर बुद्धि से सदा आचार्य की उपासना पञ्चम साधन है। पुण्यशीलता यमादि नियमादि भी पञ्चम है ॥५॥ मेरी पूजा में सदा निष्ठा=प्रेम स्थिति षष्ठ साधन कहा गया हैं ॥६॥ मेरे मन्त्र=रामनाम की अङ्गसहित उपासना सप्तम साधन है ॥७॥ मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा सत्कार सब प्राणी में रामस्वरूपता का ज्ञान शमदमादि सहित वाह्य विषयों में विराग अष्टम साधन है ॥८॥ मेरे तत्त्व पारमार्थिक स्वरूप सर्वात्मता परब्रह्म स्वरूपता का विचार नवम साधन है ॥९॥ इस प्रकार के नवधा भक्ति रूप साधन जिस किसी को भी होता है, इसमें वर्णाश्रमादि का कोई नियम नहीं है ॥

मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।
स्वात्मतत्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥१॥
विवेक चूड़ामणिः ॥३२-३३॥

मोक्ष के कारण समूह में भक्ति ही अति श्रेष्ठ है, सो अपने स्वरूप का चिन्तन=विचार स्वरूप है। अन्य कोई अपने आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप-के चिन्तनादि को भक्ति[1] कहते हैं ॥१॥ श्री कबीर साहब ने उपासना

यदाप्नोति यदादत्ते यद्‌चातिविषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥
सतामोम्य तदा सम्पन्नोभवति ॥

स्वरूपानुसंधान क्या है ? जीव तीनों अवस्था में जो अपने स्वरूप का चिन्तन करता है सो स्वरूपानुसंधान भक्ति है। सुषुप्ति में जीव ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न हो जाता है। लेकिन अज्ञान रहता है, उसी को चिन्तन करना भी स्वरूपानुसंधान भक्ति, और स्वप्न में जाग्रतावस्थ की वासनाओं का ग्रहण करता है इसका अनुसंधान करना स्वप्न कालिक स्वस्वरूपाभक्ति है। जो जाग्रतावस्था में विषयों को भोगता है सो जाग्रत कालिक स्वरूपानु-संधान भक्ति है। तुरीय अवस्था में ब्रह्मस्वरूप का चिन्तन करना आत्म तत्त्वानुसंधान स्वरूपा भक्ति है।

भक्ति का वर्णन किया है कि "पन्थी सम रे नाम ले बढी। र. ९" मोक्ष मार्ग के पथिक उपासक भक्त उपास्य सेव्य के नाम के उपदेश गुरु से लेकर, उपास्य का स्मरण करे, और शनैः शनैः मार्ग में बढ़े=विवेकादि को प्राप्त करे इत्यादि ॥

सन्तो भक्ति सतगुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बुझहु पण्डित ज्ञानी ॥

बी० शब्द ४६ ॥

हे सन्तो! आदि सतगुरु ने जगत में भक्ति आनी=अनादि भक्ति पथ का उपदेश दिया, सो भक्ति रूप नारी ने ज्ञान विराग रूप दो पुरुष को जाया=उत्पन्न किया कि जिससे शान्ति तृप्ति हुई इस अर्थ को ज्ञानी पण्डित से बूझो=समझो ॥

ज्ञानी से समझने योग्य-ज्ञानयोग

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥१॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत् परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥२॥

श्रीमद्भ० गी० अ० ४:३८–३९ ॥

ज्ञान के समान इस लोक में कोई यज्ञ दानादि पवित्र नहीं है, क्योंकि ज्ञानाग्नि सब पाप कामादि दोषों के बीज रूप अविद्या मोहादि को नष्ट करती है, उस ज्ञान को कर्मयोग भक्तियोग से सम्यक् सिद्ध संस्कृत पवित्र पुरुष कुछकाल द्वारा अपने अन्तःकरण में स्वयं प्राप्त करता है, क्योंकि गुरुकृतोपददेश सत्सङ्गादि से प्रथम परोक्ष ज्ञान होता है। फिर अन्तःकरण की शुद्धि कुछ काल के अभ्यास मननादि से स्वयं साक्षात्कार होता है।१। सद्गुरु में गुरु से उपदिष्ट अर्थ में श्रद्धा वाला, गुरु सेवा विचारादि में तत्पर=(ज्ञान के साधनों में सावधानी से प्रवृत्त) संयतेन्द्रिय (विषयों से निरुद्धेन्द्रिय वाला) अर्थात् सम दम उपरति तितिक्षायुक्त अधिकारी ज्ञान पाता है उक्त रीति से साधन पूर्वक ज्ञान को प्राप्त करके अचिरेण=शीघ्र ही पर=उत्तम शान्ति=मुक्ति पाता है, ज्ञान से अज्ञान के निवृत्त होने पर मोक्ष में विलम्ब नहीं होता है, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार के नाश में विलम्ब नहीं होता है ॥२॥ अन्तःकरण में मल=पाप, विच्छेप

चंचलता, आवरण अज्ञान, तीन दोष संसार के हेतु रहते हैं, तहाँ कर्मयोग से मल का नाश होता है, उपासना भक्ति से विक्षेप का नाश होता है, ज्ञान से अज्ञानके नाश द्वारा अज्ञानकृत आवरण के नाशरूप ही मुक्ति कही जाती है, अन्य नहीं ॥

वेदान्त वाक्यजं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ।
बुद्धिपूर्वं कृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥१॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं दैशिक पूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञान तमसश्चण्ड भास्करः ॥२॥

सूतसं० यज्ञवै० अ० ४४ ।

वेदान्त वाक्य से जन्य ब्रह्म आत्मा की एकता विषयक ज्ञान बुद्धि पूर्वक भी किये गये सब पापों को अग्नि तुल्य दग्ध करता है ॥१॥ दैशिक=गुरु पूर्वक जो शब्दजन्य अपरोक्ष आत्मानुभाव होता है, सो संसार के कारण अज्ञान रूप तम का नाशक चण्डक=तीक्ष्ण=अतिदीप्त सूर्य तुल्य होता है ॥ २ ॥ "तस्मादेवं विच्छान्तो दाना उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति ॥ वृहदा० ४।४।२३॥ जिससे ब्रह्मज्ञ के अदृश्यत्व अग्राह्यत्वादि रूपनित्य महिमा है क्योंकि वह ब्रह्म स्वरूप हो गया है, अतः ऐसा जानने वाला मुमुक्षु शान्त=शम युक्त, दान्त=दम युक्त उपरतं=जगत से उपराम विरक्त तितिक्षुः दुःखादि के सहनशील और समाहित=सावधान होकर अपने आत्मा=अन्तःकरण मन में सर्व साक्षि आत्मा को प्रत्यक्ष समझता है ॥ इस श्रुत्यर्थ के अनुसार ज्ञान साधन सहित ज्ञान का वर्णन है कि--

स्ववर्णाश्रम धर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुसां वैराग्यादि चतुष्टयम् ॥१॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥२॥
नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।
एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेको वस्तुनः स वै ॥३॥

सदैव वासना त्यागः शमोऽयमिति शब्दतः ।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥४॥
विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरति र्हि सः ।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभामता ॥५॥
निगमाऽऽचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता ।
चित्तैकाग्र्यतु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥६॥
संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात् कदा विधे ।
इति या सुदृढ़ा बुद्धि र्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥७॥
उक्त साधन युक्तेन विचारः पुरुषेण हि ।
कर्तव्यो ज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मनः शुभमिच्छता ॥८॥
कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य विद्यते ।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥९॥

अपरोक्षानुभूतिः ।

अपने वर्णाश्रम के धर्मरूप तप द्वारा श्रीहरि की तुष्टि=प्रसन्नता से मनुष्यको विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व=तीव्र-मोक्षेच्छा रूप चार ज्ञान के साधन होते हैं ॥१॥ अनु=कर्मजन्यता से अनित्यत्व के अनुभव करके ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त के विषयों में जो काकविष्ठा तुल्य वैराग्य होता है, सो अतिनिर्मल होता है ॥ २ ॥ आत्म स्वरूप ही वस्तु नित्य है, दृश्य अनात्मा उस से विपरीत=अनित्य है, इस प्रकार का जोसम्यग् निश्चय सो वस्तु का विवेक कहा जाता है ॥ ३ ॥ सदा ही बासनाओं का त्याग शम कहा जाता है, बाह्यवृत्तियों का त्याग दम कहा जाता है, ॥ ४ ॥ विषयों से अत्यन्त निवृत्ति-परम उपरति होती है और सब दुःख को सहना शुभ तितिक्षा मानी गई है ॥५॥ निगम=वेद गुरु वाक्य में भक्ति श्रद्धा कहाती है । और सत्यलक्ष्य में चित्त की एकाग्रता को समाधान कहा जाता है ॥ ६ ॥ हे विधे ! संसाररूप मेरेबन्धन की

निवृत्ति कैसे कब होगी, इसप्रकार सुदृढ बुद्धि को मुमुक्षुता कही जाती है ।। ७ ।। उक्त साधनों से युक्त अपनी शुभ की इच्छावाले पुरुष को ज्ञान की सिद्धी के लिये विचार कर्तव्य होता है, क्योंकि अन्य साधनों के रहते भी विचार के विना ज्ञान नहीं होता है ।। ८ ।। उस विचार का स्वरूप यह है कि इस देह इन्द्रिय मन प्राणादि में मैं कौन हूं, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है, इसका कर्ता उपादान कारण कौन है, इत्यादि ।। ९ ।।

अथज्ञानम्

ब्रह्मैवाऽहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥१०॥
निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥११॥

अपरोक्षानुभूतिः ।

उक्त विचार के अनन्तर "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुति के अनुसार, मैं सम=सदा एक रस, शान्त=निरुपद्रव=निर्द्वन्द्व, सच्चिदान्द स्वरूप ब्रह्म हूं। असत्स्वरूप=मायामय त्रिविध देह मैं नहीं हूं, ऐसा निश्चय ही वह ज्ञान पण्डितों से कहा जाता है ।। १० ।। आकार विकार रहित निर्दोष अव्यय=अविनाशी शिवस्वरूप सर्वत्र सदा समान मैं हूं असत् स्वरूप देहादि मैं नहीं हूं। यह निश्चय विद्वानों से ज्ञान कहा जाता है ।। ११ ।।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥ १ ॥

पञ्चदशी प्र० ६।१६ ।।

सच्चिदानन्द ब्रह्म है, ऐसा यदि कोई जानता है, तो उसका वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है, शरीरादि से भिन्न मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं, ऐसा यदि जानता है, तो वह साक्षात्कार=अपरोक्ष ज्ञान ही है ।। १ ।।

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
जन्मवृद्ध्यादि रहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥ १ ॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमय हि यत् ।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्य दर्शिनः ॥ २ ॥
विष्णु पु० अंश० १।१४॥

एक व्यापक सम शुद्ध निर्गुण प्रकृति पर, जन्मवृद्धि आदि रहित आत्मा सर्वगत होते भी अव्यय निर्विकार है ॥ १ ॥ अपने और अन्य सब देहों में वर्तमान भी उस आत्मा का जो एकमय=एक स्वरूप=सर्वत्र विज्ञान सो परमार्थ=सत्य अनुभव है और द्वैती=सत्यभेददर्शी लोग मिथ्या दर्शन=ज्ञान बताते हैं ॥ २ ॥

ब्रह्म प्रकाशकं ज्ञानं भवबन्ध विभेदकम् ।
तत्रैक चित्तता योगो मुक्तिदो नाऽत्र संशयः ॥१॥
गरुड पु० खं० १। अ० ३३६ ॥

ब्रह्म को प्रकाशने=निरावरण करने वाला ज्ञान, भवबन्ध=मोहकामादि को नष्ट करता है और उस ब्रह्म में एकाग्रता ब्रह्मनिष्ठता योग है, सो मुक्ति दाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

अद्वैतं सांख्यमित्याहु योगस्तत्रैकचित्तता ।
अद्वैतयोगसम्पन्नास्ते मुच्यन्तेऽतिबन्धनात् ॥ २॥
गरुड़ पु० खं० १। अ०६३६ ॥

अद्वैतज्ञान को सांख्य कहते हैं, उस अद्वैत में एकाग्रता योग है, जो अद्वैत और योग से सम्पन्न=युक्त हैं, सो अतिबन्धन=संसार से मुक्त होते हैं ॥२॥

भावाऽद्वैतं क्रियाऽद्वैतं द्रव्याऽद्वैतं तथाऽऽत्मनः ।
वर्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः ॥ १ ॥
भा० स्क० ७।१५।६२ ।

कार्यकारण वस्तु की एकता ज्ञान रूप भावाद्वैत, मन वचनादि से सब कर्मो का परब्रह्म में समर्पणरूप कर्माद्वैत, अपने धनादि द्रव्य और स्वार्थ

की एकता का चिन्तन ईश्वरार्पण रूप द्रव्याद्वैत, इन तीनों अद्वैतों को वर्तता=विचारता देखता हुआ मुनि अपनी आत्मा के अनुभव से जाग्रदादि रूप तीन स्वरूप=मिथ्या अवस्था को नष्ट करके तूर्य सत्यपद में स्थिर होता है ॥ १ ॥

"तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः ।

ऐतरेयोप० खं० ३

जीवरूप से शरीर में प्रविष्ट आत्मा के तीन आवसथ=स्थान=जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति के निवास स्थान = दक्षिण नेत्र, कण्ठ और हृदय, तीन स्वरूप ही है, अर्थात् सत्यानुभवादि रहित है ।

स सर्व धीवृत्त्यनुभूत सर्व आत्मायथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तंसत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥१॥

श्रीमद्भागवत स्क० २।१।

जैसे स्वप्न जनों को देखने वाला एक आत्मा रहता है, त्रिपुटी मिथ्या भासती है तैसे ही वह सत्यात्मा एक ईश्वर सब प्राणियों की बुद्धिवृत्ति द्वारा सबका अनुभव करने वाला है, उसी सत्य आनन्दनिधि का भजन करना चाहिये, अन्य में आसक्त नहीं होना चाहिये कि जिससे स्वरूप से पतन होता है ॥ १ ॥ श्री सद्गुरु कबीर साहब ने भी कहा है—

जीव रूप एक अन्तर वासा ।
अन्तर ज्योति कीन्ह प्रकाशा ॥

सब जीव=विज्ञानमय का पारमार्थिक स्वरूप एक है, सो सब के अन्दर की ज्योति स्वरूप है, मन इन्द्रियादि का प्रकाश किया है, उसीके अज्ञान से बन्धन है, उसके सत्य ज्ञान से मोक्ष होता है, उसीका ज्ञान योग है ।

अथ पातञ्जल योग

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ यह पद उच्चारण मात्र से मङ्गलार्थक होते भी अधिकारार्थक है, अतः योग के अनुशासन शिक्षण=उपदेश का अधिकार=प्रारम्भ किया

गया है, जो कुछ आगे कहा जायगा, सो योग का स्वरूप, साधन फलात्मक होगा, यह सूत्र का भावर्थ है। अत एव भाष्यकार कहते हैं कि—

"योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्"

योगानुशासन नामक शास्त्र अधिकृत=प्रारब्ध है, ऐसा समझना चाहिये ॥

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकी कृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्येत ॥ १ ॥
स योगस्त्वात्म मनसो योंग इत्युच्यते बुधैः ।
प्राणापान समायोगो योग इत्यपि केचन ॥२॥

स्कन्द पु० काशी खं० अ० ३५-४१ ।

रागद्वेष मोहादि वृत्ति से रहित मन को करके, क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा को परमात्मा में एक=अभिन्न समझ कर जीवन्मुक्त हुआ जाय, तो यह मुख्य योग कहा जाता है ॥ १ ॥ वह योग आत्मा और मन के संयोग विशेष को भी कहा जाता है, प्राण अपान के सम्यग् योग=सम्बन्ध को कोई हठी योगी योग कहते है ॥ २ ॥ "युजिर=योगे" इस धात्वर्थ के अनुसार योग शब्द के अर्थ किया जाता है अद्यपि, तथापि, योगानुशासन, पदगत योग शब्द के "युजसमाधौ" इस धात्वर्थं के अनुसार भाष्यकार कहते हैं कि "योगः समाधिः" चित्तवृत्तियों=बुद्धिवृत्तियों के निरोधरूप समाधि योग कहा जाता है, सो योग सार्वभौम, मधुमती=प्रतीका विशोकासंस्कारशेषा इत्यादि वक्ष्यमाण भूमि=अवस्था में होने वाला है, और वह योग चित्त=बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं, क्योंकि चित्त का परिणाम विशेष समाधि का सम्भव है, आत्मा परिणाम रहित है, अतः सूत्र है कि—

"सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तायस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

पाद० ४।१७।

चित्त के प्रकाशक आत्मा अपरिणामी है, अतः चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात हो होती हैं, अन्यथा परिणाम होने पर चित्त का प्रकाशक अप्रकाशक हो जायगा, क्योंकि सतत्त्वतो वस्तुतोऽन्यथाभाव को परिणाम कहा

जाता है, अतः दुग्ध के दधिभाव के समान चित् चेतन=अचेतन भाव होने से ज्ञातृत्व नहीं रहेगा इत्यादि। परन्तु चित्त की सभी अवस्था में होने वाली वृत्ति निरोध को योग कहा जाय, तो, क्षिप्त=रजोगुण से अतिचञ्चल, १ मूढ=तमोगुण से निद्रादि युक्त२, विक्षिप्त=क्षिप्त से विलक्षण=कभी स्थिरता युक्त३ एकाग्र=एकाकार४, और निरुद्ध भी पांच चित्त की अवस्था हैं, और क्षिप्त मूढ अवस्था में भी किसी किसी वृत्ति का निरोध रहता ही है, अतः इन अवस्थाओं में भी योग होना चाहिये, ऐसी शंका होनेपर भाष्कार कहते हैं कि, ये पांचो चित्त की भूमि=अवस्था हैं, सही, परन्तु इन में जो विक्षप्त अवस्था प्रथम के दो से विशिष्ट श्रेष्ठ है, उस अवस्था के=विक्षिप्त चित्त में रहने वाली समाधि=क्षणिक वृत्ति का निरोध, योगपक्ष में नहीं वर्तता है, वस्तुतः योग नहीं कहा जाता है, क्योंकि उस अवस्था के समाधि विक्षेप के उपसर्जन-स्वरूप=विक्षेप के अन्तर्गत रहता है, सो क्षिप्त मूढ अवस्था के समाधि तो अतिदूर ही योग से रह जाता है। किन्तु एकाग्रचित्त में जो समाधि होती है, सो सत्यभूत=वर्तमान अर्थ को प्रद्योतन=प्रकाशन अनुभव कराती है, अविद्यादि क्लेशों को नष्ट करती है, क्लेशमूलक कर्मात्मक बन्धनों को शिथिल=अदृढ=निर्बल करती है, निरोधात्मक समाधि को अभिमुख=उपस्थित करती है। सो एकाग्रचित्त में होने वाली समाधि संप्रज्ञात योग इस शब्द से कही जाती है और वह स्थूल भौतिकादि विषयक समाधि=वितर्काऽनुगत=सवितर्का कहाती है, १। सूक्ष्म प्रकृति आदि विषयक=विचारानुगत=सविचारा कहाती है, २। इन्द्रिय वा आनन्दविषयक आनन्दानुगत=सानन्द कहाती है। ३ अस्मिता=केवल आतममात्र विषयक अस्मिताऽनुगत=अस्मितमात्र कहाती है, ४। इनका आगे निवेदन किया जायेगा। सववृत्ति के निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है ॥ १ ॥ तस्य=पूर्वोक्तद्विविधयोग के लक्षण कहने की इच्छा से यह द्वितीय सूत्र प्रवृत्त हुआ है कि—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ॥२॥

इस लक्षणात्मक सूत्र में सर्वशब्द के अग्रहण से सात्त्विक वृत्ति के रहते भी तामस राजस वृत्तियों के निरोधात्मक संप्रज्ञात भी योग कहाता है, राजस तामस वृत्ति के रहते नहीं॥ क्योंकि प्रख्या=प्रकाश ज्ञान प्रवृत्ति और स्थिति शील=स्वभाव वाला होने से चित्त=सत्त्वरज-

स्तम, त्रिगुणात्मक होता है, तहाँ चित्त रूप से परिणत सत्व=चित्त सत्त्व=सत्त्व प्रधान चित्त, रज तम से संसृष्ट=युक्त होने के कारण, अणिमादि ऐश्वर्य और शब्दादि प्रिय वाला होता है, इससे विक्षिप्त होता है ।।१।।

वही चित्त रज=रज से भी प्रबल तम से अनुविद्ध=व्याप्त होकर, अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य से अनुग=अनुगत=युक्त होता है, जिससे क्षिप्त मूढ़ होता है ।२।३। वही चित्त=प्रक्षीण प्रनष्ट, मोह=तम रूप आवरण वाला, अत एव सर्वत्र प्रद्योतमान=प्रकाशयुक्त, रजोमात्रा लेश से अनुविद्ध युक्त होकर, धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य उपगत=युक्त होता है, वही चित्त रजो मात्रा=लेश से भी रहित होकर स्वरूप प्रतिष्ठ=सत्त्व मात्र में स्थिर, सत्त्व=बुद्धि पुरुष के विवेक ज्ञान मात्र स्वरूप, धर्म मेघ ध्यान से उपगत=युक्त होता है। ध्यानशील योगी इस चित्त को परम उत्तम=प्रसंख्यान=विवेक=ज्ञान कहते हैं।। इससे सबीज संप्रज्ञात समाधि कही गयी है ।।४।। विवेक प्रदर्शन पूर्वक निर्बीज समाधि को दर्शाने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि चिति शक्ति=चिदात्मा ज्ञप्ति=धर्मलक्षण अवस्था रूप त्रिविध परिणाम से रहित=अपरिणामिनी है, क्योकि अप्रति=संक्रमा=प्रतिसंक्रम=प्रचार=कार्यार्थिक प्रवृत्ति=व्यापार से रहित है तथा दर्शित=विषया, सदा स्वभाव से ही दर्शित=ज्ञात=प्रकाशित बुद्धिरूप विषय वाली है, द्रष्टव्य कोई विषय नही है, कि जिसके दर्शन के लिये प्रचार हो, शुद्धा=सुख दुःख मोहात्मक अशुद्धि रहित है, और अनन्त उत्पत्ति नाश रहित विभु होने से देश काल कृत अन्त=भेद रहित है। और इयम्=यह उक्त विवेक ख्याति=विवेक ज्ञान, इस चिति शक्ति से विपरीत गुणात्मक होती है, अतः उस विषयक भी विरक्त चित्त उसका भी निरोध करता है, फिर उसनिरोधावस्था वालाचित्त=संस्कारोपशम संस्कार-मात्र युक्त=प्रत्यय रहित रहता है सो निर्विज समाधि कहा जाता है। क्योंकि उस अवस्था में कुछ भी सम्यक् ज्ञात नहीं होता है, अतः असंप्रज्ञात कहा जाता है, इस प्रकार द्विवध योग चित्तवृत्तिनिरोधरूप होता है।। २।। उक्तरीति से सर्ववृत्ति के निरोधावस्था में बृत्तियों के संस्कार सहित चित्त रहता है, अतः समाधि से व्युत्थान शेष प्रारब्ध का भोग योगी का होता है। और कैवल्यावस्था में बुद्धि चित्त वृत्ति संस्कार सहित मूलप्रकृति में लीन हो जाती है, इससे योगी की पुनरावृत्ति नहीं होती है। परन्तु संस्कार शेषसमाधि अवस्था में भी संस्कार के अनुमेय

होने से उसका प्रत्यक्ष बुद्धि-ज्ञान होता नहीं है, और जाग्रत तथा संप्रज्ञात समाधि काल के बुद्धि का ज्ञानमानो पुरुष को होता है, अर्थात् संप्रज्ञात अवस्था में "स्वात्मानं जानामि" मैं अपने स्वरूप को जानता हूँ, ऐसी बुद्धि होती है, जाग्रत में "घंट जानामि" घट को जानता हूँ ऐसी बुद्धि होती है, सो यद्यपि अनुव्यवसाय नामक बुद्धि ज्ञान चित्त (बुद्धि) की वृत्तिरूप ही होती है, तथापि चिदात्मा पुरुष की प्रतिच्छाया = प्रतिबिम्ब ही बुद्धि पुरुष रूपता को प्राप्त रहती है, अतः उसज्ञान को पौरुषेय बोध कहा जाता है। सांख्यकारिका है कि—२०।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥१॥

तस्मात् - चेतनता और कर्तृता के अभिन्न स्थान में रहते भी पुरुष समीपता से अचेतनं लिङ्ग = सूक्ष्म शरीर चेतन तुल्य होता है और गुणमय बुद्धि में कर्तृत्व रहते भी उदासीन पुरुषकर्ता तुल्य होता है ॥१॥ अतः "घटमहं जानामि" इस ज्ञान के विषय घट = घट ज्ञान, घट ज्ञाता, तीनों होते हैं, अतएव बुद्धि के बोधात्मा पुरुष मानो निरुद्धावस्था अन्यत्र रहता है, निरुद्धावस्थायुक्त चित्त में अनुव्यवसाय के विषय व्यवसाय के अभाव होने पर उस व्यवसाय के ज्ञानात्मक पुरुष किस स्वभाव वाला रहता है। उत्तर है कि—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

तदा=निर्वीजीवास्था में द्रष्टा पुरुष की स्वस्वरूप चिन्मात्रसे स्थिति रहती है, जैसे कैवल्यावस्था में रहती है। इतना भेद है कि कैवल्य से पुनरावृत्ति नहीं होती है, निर्बीज से व्युत्थान (उपरति) होता है, फिर उस व्युत्थानयुक्त चित्त के होने पर तथा=स्वरूप स्थित होते भी = चित्त सान्निध्य सामीप्य से तथा प्रतीत नहीं होता है, बुद्धि स्वसमान ही देखती है ॥ ३ ॥ समाधि से चित्त के होने पर भी अपरिणामी पुरुष के तथा=वस्तुतः स्वरूप स्थित होते भी तथा व्युत्थान काल में पुरुष नहीं रहता है प्रतीत नहीं होता है, ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि "कथं तर्हि" तो कैसे पुरुष व्युत्थान अवस्था में रहता है (प्रतीत होता है) तो इस का उत्तर दिया गया है कि—

दर्शित विषयत्वाद् वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

बुद्धयादर्शितो विषयो यस्मै स पुरुषोदर्शित विषयः. तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद् । अर्थात् बुधि पुरुष के लिये विषयप्रदर्शित करती है कि = इदं कर्म इदं वस्तु हेयं दुःखत्वाद 'दुःखहेतुत्वात्' इदं तु उपादेयं, (सुखहेतुत्वात्) यह पापकर्म दुष्ट वस्तु हेय=त्यज्य है, क्योंकि दुःख रूप दुःख का कारण है, यह पुण्य कर्म सुन्दर निर्दोष वस्तु उपादेय है, क्योंकि सुख रूप सुख का कारण है। ऐसा प्रदर्शित होने पर पौरुषेय प्रदर्शन रूप वृत्ति बुद्धि की ही होती है कि उक्तं हेयं उपादेयं च जानामि। उक्त हेय = उपादेय को जानाता हूँ = अब हेय को त्यागूंगा, उपादेय को ग्रहण इत्यादि, यद्यपि ये सब वृत्तियाँ परिणामवाली बुद्धि की ही होती है, तथा पुरुष प्रकाशित, पुरुष चित् के चिदाभास प्रतिबिम्ब युक्त चिद्रूपता को प्राप्त बुद्धि के परिणाम वृत्तियों के होने से पौरुषेय वृत्ति कहाती है, और आभास द्वारा पुरुष=आत्मा भी व्युत्यानावस्था में वृत्ति रूपता को प्राप्त होता है, अतः सूत्रकार कहते हैं कि—इतर=उक्त समाधि अवस्था में पुरुष की वृत्तिस्वरूप हो रहती है (प्रतीत होती है)॥ भाष्यकार कहते हैं कि व्युत्थान होने पर जो वृत्तियां बुद्धि की होती हैं, उनसे विशिष्टता= विभिन्नता=विलक्षणता रहित=अविशिष्ट=तुल्य वृत्ति=स्थितिवाला पुरुष रहता है। तथा च=उक्त अर्थ को कहने वाला, पञ्च शिखाचार्य के सूत्र है कि 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् इति' सब वृत्तियों में वृत्ति रूपता को प्राप्त एक ज्ञान स्वरूप पुरुष ही सर्व दर्शन=ज्ञानस्वरूपा वृत्ति तो उसका उद्बोधक मात्र होती है। अतः वृत्ति से अभिव्यक्त चिदात्मा से विषयों की ख्याति=विवेक ख्याति दिप्ति ही दर्शन ज्ञान है, वृत्ति मात्र नहीं तथापि चित्त रूपता को प्राप्त होकर पुरुष वाह्य विषय की ख्याति होता है। परन्तु बुद्धि की ख्याति वृति बिना साक्षाद् होता है, तहाँ दृश्य के बिना द्रष्टारूपता के व्यक्त नहीं होने के कारण, चित्त (बुद्धि) अयस्कान्तमणि तुल्य वृत्ति बिना समीपता मात्र से प्रकाशक रूपता में उपकारी होता हुआ दृश्यरूप से पुरुष रूप स्वामी का स्व=सम्पत्ति होता है (प्राकाश्य भोग्य विषय होता है) इससे बुद्धि के दृश्य होने से बुद्धि वृत्ति के बोके में (वृति रूपता की प्राप्ति मे) भी बुद्धि के साथ पुरुष का अनादि सम्बन्ध (दृश्य से द्रष्टाभाव) हेतु है॥ अर्थात् अनादि चिद्रूपतता को प्राप्त बुद्धि ध ही परिणाम रूप वृत्तियां होती हैं इत्यादि ॥४॥

उक्त चित्तवृत्तियाँ अनन्त होती हैं, कि जिन्हे जाने बिना निरोध करना भी यद्यपि अशक्य है, तथापि निरोध के लिये शक्य दर्शाने के लिये कहा गया है कि—चितस्थचित्त के बृत्तियों के 'बहुत्वे सति, बहुत्त्वा= अनन्त होते भी, ताः=पूर्वोक्त के 'निरोव्य' निरोध करने योग्य=वृत्तयः पञ्चतव्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥ वृत्तिसमूह अवयवी है, पञ्ज अवयव= भाग हैं, अतः सब वृत्तियाँ पांच अवयव वाली, पुनः क्लिष्ट अक्लिष्ट दो भेद वाली है, अतः इन स्वरूपों से ज्ञात निरोद्धव्य होती हैं।

पञ्चतयी में 'संख्याया अवयवे तयप' इससे तयप। तथा स्त्री प्रत्यय होने से पञ्चतयी, शब्द सिद्ध होता है। भाष्यकार कहते हैं कि—क्लेश= अविद्या अविवेक रागाद्वेषादिनिमित्तक=अविद्यादि जन्य, अतएव कर्माशय= पुण्यपाप वासना के क्षेत्रभूत=आश्रयस्वरूप वृत्ति क्लिष्ट=दृढ = तीक्ष्ण कही जाती है। प्रकृति पुरुष के विवेक रव्याति=प्रतीति विषयक=विवेक ज्ञान स्वरूप वाली दृढ=एक गुणके अधिकार=अविवेक मूलक जन्म मरणादि द्वन्दो के विरोधिनी वृत्ति अक्लिष्य=अक्रूर सुखदा कही जाती है। तहाँ क्लिष्टा के प्रवाह में कदाचित अक्लिष्टा होती है, सो क्लिष्ट के छिद्र=अभाव= अनुत्पत्ति क्षण में अक्लिष्टा होती है। एवं अक्लिष्ट छिद्रों में क्लिष्टा होती है, अतः योगी को सावधान रहना होता है कि जिससे छिद्र न हो इति। क्यों कि—तथा जातियकाः, जिसप्रकार की प्रच्छिद्र या निश्छिद्र=क्लिष्ट या अक्लिष्ट वृत्ति रहती है, उसी जातीय = प्रकारस्वभाव वाले संस्कार उन वृत्तियों में उत्पन्न किये जाते हैं, फिर ऊन संस्कारों से वृत्तियां होती हैं, इस प्रकार से वृत्तिसंस्कार के चक्र=आवृत्ति प्रवाह=अनिश=सदा आवृत्त होती=आती जाती रहती है, वही वृत्ति संस्कार के प्रवाह वाला चित्त योगी के यत्न से निरोधावस्था युक्त होकर= तथा व्यवसित=समास अधिकार वाला होकर, आत्मकल्पेन = आत्मतुल्य उदासीन स्वरूप से स्थिर होता है, अतः क्लिष्ट अक्लिष्ट वे[1] वृत्तियाँ कही गई हैं, कि जिनको जान कर निरोध किया जाय ॥ ५ ॥

जो पञ्चधा=पांच प्रकार वाली क्लिष्टाऽक्लिष्ट वृत्तियाँ कही गई हैं— उनके नाम निर्देशात्मक सूत्र है कि—प्रमाण विपर्य विकल्पनिन्द्रास्मृतयः ॥ ६ ॥ ता=क्लिष्टाश्चाक्लिष्टांश्चपञ्चधा वृत्तयो, भवन्ति। यथार्थ ज्ञानात्मक

१—पाँच प्रकार की।

प्रमाण वृत्ति १ मिथ्या भ्रमात्मक बाधित होनेवाली विपर्यय वृत्ति २ मिथ्या होते भो बाधित नहीं होने वाली विकल्पवृत्ति ३ निद्रा दोष सहित संस्कार जन्य निद्रा वृत्ति ४। संस्कारमात्रजन्य स्मृति वृति ५, ये पांचो प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट और और अक्लिष्ट भेद से दो दो प्रकार की होती हैं॥ ६॥

तत्र = उन उक्त पांचों में=प्रथमा=प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥ प्रत्यक्ष=अनुमान और आगम नामवाली तीन प्रकार की वृत्ति प्रमाणात्मक यथार्थ ज्ञान रूप होती हैं। इन में—इन्द्रियों द्वारा चित्त के वाह्यविषय के साथ=उपराग=सम्बन्ध से जो सामान्य विशेषात्मक अर्थ=वस्तुविषयक मुख्यरूप से विशेष का अवधारण=निश्चयात्मक चित्त की वृत्ति होती है, सो प्रत्यक्ष प्रमाण रूप होती है अर्थात् धूम को देखने पर अग्नि के सामान्य ज्ञान होने पर भी विशेष ज्ञान नहीं है कि यह तृण की है, या काष्ठ की है, कितने स्थान में है, और प्रत्यक्ष ज्ञान से विशेषों का अनुभव होता है, अतः विशेष का अवधारण ही प्रधान=मुख्य अनुमानादि की अपेक्षा विशेष जिसमें सो वृत्ति विशेषावधारण प्रधाना कही गई है, और प्रत्यक्ष प्रमाणरूप कहा गई है॥ १॥उक्त प्रमाण का फल=प्रमित रूप, पौरुषेय= पुरुष जनित बोध बुद्धिवृत्ति का बोधरूप, तथा बुद्धि=बुद्धिवृत्ति से अविष्ट स्वरूप होता है क्योंकि पुरुष बुद्धि का प्रतिसम्वेदी बुद्धिसे संवेदित=ज्ञात को ही प्रतिसंवेदन करने वाला होता है। यह आगे विशेष रूप से प्रतिपादन किया जायगा। भाव है कि अचेतना भी बुद्धि चेतन पुरुष के सान्निध्य से चेतनावत् होती है, अकर्ता उदासीन भी पुरुष बुद्धि सान्निध्य से कर्ता तुल्य होता है, अतः चेतनावत् बुद्धि की वृत्ति रूप 'अयं घटः' यह घट है, ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण होने पर, कर्तृबुद्धिवत् = बुद्धि रूपपुरुष को ज्ञान होता है कि "घटमहं-जानामि" घट को मैं जानता हूं। अतः बुद्धि से संवेदित घट को पुरुष जानता है, इससे बुद्धि के प्रतिसंवेदी है, तथा बुद्धि वृत्तिरूप ज्ञान को भी जानने वाला है। वस्तुतः "घटमहं जानामि" यह वृत्ति भी बुद्धि की होती है, परन्तु चेतनावत हुई रहतीहै, अतः यह पौरुषेय बोध कहा जाता है।

अनुमेय=अनुमान से जानने योग्य चन्द्रादि की गति का गतमान चन्द्रादि के तुल्य जातीय=गतिमान् चैत्रादि में अनुवृत्त=वर्तमान सम्बन्ध तथा विजातीयगतिरहित=वन्ध्यादिसे व्यावृत्त जो सम्बन्ध=तद्विषयक गतिमत्त्व विषयक सामान्य अवधारण प्रधानावृत्ति अनुमान प्रमाण होती है। जैसे कि चन्द्र-तारे, गति वाले हैं, क्योंकि देशान्तर में उनकी प्राप्ति होती है, विन्ध्यदेशान्तर में प्राप्ति से रहित है अत: गति रहित है। आप्त=सत्यवक्ता पुरुष, अपने ज्ञान को अन्य में भी संक्रान्ति प्राप्ति के लिये दृष्ट या अनुमित=अनुमान से अनुमित=अनुमान से ज्ञात अर्थ का शब्द से उपदेश करता है, तहाँ शब्द से उपदिष्ट उस अर्थविषयक वृत्ति श्रोता की होती है, वह आगम प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् आगम जन्य होने से वृत्ति भी आगम कही जाती है। जिस आगम=शास्त्र के वक्ता दृष्ट अनुमित अर्थ वाला नहीं रहता है, अतएव अश्रद्धेय अर्थवाला रहता है, सो आगमप्लवित=प्रमाणता=युत=रहित हो जाता है किन्तु वर्तमान वक्ता के अदृष्टानुमितार्थक होते भी मूलवक्ता के दृष्टानुमितार्थक होने पर वह आगम=युक्त नहीं होता है ॥ ७॥ श्रुति आदि के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा के सात भेद हैं, अत: उनके जनक प्रमाण भी सात हैं, तहां ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, सो यद्यपि वर्तमान विषयक जीवका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथापि भूत भावी को भी कारण रूप से वर्तमान को ईश्वर प्रत्यक्ष ही जानता है। तहाँ "स सर्वधींवृत्त्यनुभूत सर्व:" वह ईश्वर सब प्राणी की बुद्धिवृत्ति द्वारा सब पदार्थो को अनुभूत=ज्ञात किया रहता है, इस श्रीमद्भागवत के अनुसार—सब प्राणी के अन्तर्यामी होने से सब प्राणी की बुद्धि रूप करण—ज्ञान के असाधारण कारणवाला ईश्वर है।

न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

श्वेता० ६।८

उस ईश्वर के शरीर इन्द्रिय नहीं है, न उसके समान या अधिक दीखते हैं, कि परा=उत्तमा विविधा शक्ति सुनी जाती है, तथा स्वाभाविकी मायिकी ज्ञान=क्रिया=सर्वज्ञत्वादि और बलक्रिया 'कार्य' सुनी जाती है : इससे माया जन्यसर्वविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला ईश्वर प्रतीत होता है। तहाँ माया को=सबविषयों से संयोग या सब की बुद्धियों से संयोगजन्य ज्ञान के होने से "तज्जन्यत्वेसति तज्जन्यजनको व्यापारः" माया बुद्धि जन्य माया बुद्धिजन्य ज्ञान के जनक होने से संयोग रूप व्यापार वाले माया बुद्धि कर होती हैं, तज्जन्य ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ १ ॥ आकाश के सूक्ष्म तत्त्वांश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न व्यक्त होता है, उसका शब्द सहित आकाश प्रदेश से संयोग होता है परन्तु आकश में किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं होने से आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है किन्तु आकाश के गुण शब्द प्रत्यक्ष की योग्यता वाला रहता है, अतःसंयुक्ततादात्म्य संम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। शब्द में वर्तमान तारत्व मन्दत्वादि के संयुक्त तादात्म्यवत्ता तादात्म्य संम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है ॥ २ ॥ त्वगिन्द्रयसे प्रत्यक्ष योग्य स्पर्शयुक्त द्रव्य का संयोग सम्बन्ध से शीतोष्णा स्पर्श का संयुक्त तादात्म्यवत्ता तादात्म्य से स्पर्शत्वादिक सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है ॥ ३ ॥ प्रत्यक्षयोग्य रूप युक्त द्रव्य का नेत्र से संयोग सम्बन्ध से रूप का संयुक्त तादात्म्य से रूपत्वादि का संयुक्त तादात्म्यवत्ता तादात्म्य से प्रत्यक्ष होता है ॥ ४ ॥ रसना में द्रव्य के ज्ञान की शक्ति योग्यता नहीं होने से संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध से रस का, संयुक्तता–दात्म्यवत्तातादात्म्य से रसत्व मधुरत्वादि का प्रत्यक्षज्ञान होता है ॥ ५ ॥ घ्राण में भी द्रव्यग्रहण की शक्ति नहीं है अतः संयुक्त तादात्म्य संयुक्त तादात्म्यवत्ता तादात्म्य से गन्ध का संयुक्त तादात्म्यवत्तातादात्म्य से गन्धत्वादि का प्रत्यक्ष होता है ॥ ६ ॥ हर्ष शोक सुख दुःख कामक्रोधादि मन के तमोरज = अंश के परिणाम रूप कार्य होते हैं, और इनके ज्ञान भी मन के सत्त्वांस का परिणाम रूप प्रत्यक्ष ही होता है, अतः ये सात प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥ ७

यद्यपि जीव के सब ज्ञान मन के परिणामरूप ही होते है, तथापि इन्द्रिय द्वारा होने पर इन्द्रिय जन्य और इन्द्रिय की अपेक्षा बिना सुखादि का ज्ञान मानस कहा जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मात्मा का ज्ञान मन से ही होता है।

शब्दोपदेश से प्रथमसामान्य ज्ञान होने पर मन से विचारने पर ध्यान से अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः "औपनिषदं ब्रह्म। मनसैवेदमाप्तव्यम्" ये दोनो वाक्यसत्य ही है ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

प्रमाता प्रमाण प्रमेय ये तीनों दोष रहित रहते हैं, तब यथार्थअर्थ के के अनुसार=प्रमाण रूप सत्यज्ञान होता है, प्रमाता आदि में से किसी में से किसी में दोष रहते या सब में दोष रहते, अयथार्थ = यथार्थभिन्न = यथार्थ सदृशमिथ्या ज्ञान होता है, सो अतद् रूपप्रतिष्ठ होता है, अर्थात जिस वस्तु विषयक होता है, उसको प्रकाशनेवाला=उसमें स्थितिवाला नही होकर अन्यअर्थ में स्थितिवाला होता है, दोष वल से अविद्यमान अर्थ को प्रकाशता है, इस को विपर्यय ज्ञान=अन्यथा ख्यति भी कहा जाता है ॥ प्रमेय रज्जुसर्पादि में सादृश्य दोष से रज्जु में सप शीपी में चांदी भासती है, दूरता दोष से चन्द्रादि के मिथ्या ज्ञान होते है, नेत्र दाष से शंखादि पीले भासते हैं, रसना दोषसे मिठा वस्तु तिक्त भासती है, इत्यादि। परन्तु वेदान्तमत में प्रत्यक्षज्ञान में वर्तमान विषयप्रत्यक्षज्ञानका हेतु हाता है, अतः जहाँ रज्जु आदि की प्रकाशने के लिये अन्तःकरण की वृत्ति रज्जु आदि देश में जाती है, परन्तु मन्दान्धकारादि दोष से उस विषयाकार को नहीं प्रकाशने के कारण विषयावच्छिन्न चेतन तथा वृति अवच्छिन्न चेतन निष्ठ मायांश अविद्या में क्षोभ =चाञ्चल्य होता है, फिर उसके तमोगुणांश-मिथ्या सदसद्से विलक्षण सर्पादि आकारको प्राप्त होता है, और अविद्या के सत्त्वांश उस सर्पादि के ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है, प्रत्पक्षविपर्यय स्थान में सर्वत्र ऐसा माना जाता है।

संशय ज्ञान भी 'अतद्रूपप्रतिष्ठ, रहता है, अतः वह भी विपर्यय कहा जाता है, और विपर्यय ज्ञान प्रमाण ज्ञान से भिन्न होता है, अतः उसका भिन्न लक्षण किया गया है, तहाँ संशय होता है किस=विपर्य्यः कस्मान्न प्रमाणम् ॥ वह विपर्य्य ज्ञानप्रमाण क्यों नहीं होता है, अपने विषयका बोधक क्यों नहीं होता है, समाधान है कि प्रमाण के भूत=सिद्ध सत्यार्थविषयक होने से प्रमाण से विपर्य्यय बाधित=निषिद्ध होता है, अतः

विपर्य्य प्रमाण नहीं होता है तहां प्रमाणसे अप्रमाण का बाध देखा जाता है, जैसे कि दो चन्द्रका दर्शन=ज्ञान, सत्य एक चन्द्र के दर्शन से बाधित= निवृत्त होता है। सो यह उक्त अप्रमा ज्ञान रूप अविद्या पांच पर्व=अंश– भागवाली होती है, अविद्या, आस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम- वाली क्लेशात्मिका कही जाती है। ये ही अपने नामों द्वारा=तम, मोह, महा=मोह, तामिस्र अन्धतामिस्र, कही जाती है। ये पांचो चित्त के मल कथन के प्रसङ्ग से कही जायगी॥ ८॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्द और ज्ञान के अनुपतन=अनुगमन करता हो, और ज्ञेय वस्तु से शून्य हो, सो प्रत्यय=ज्ञान=विकल्प कहा जाता है। वह विकल्प ज्ञान= प्रमाणोपारोही=प्रमाण के अन्तर्गत=प्रमाणस्वरूप नही हो सकता है. क्यों कि वस्तुशून्य रहता है, प्रमाणज्ञान वस्तु का प्रदर्शक होता है, विपर्यय के अन्तर्गत भी यह नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्दज्ञान के अनुगामी होता है, अर्थात् विपर्य्यय ज्ञान के विषय को मिथ्या जान लेने पर, तद्विषयक शब्द और ज्ञान भी निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु विकल्पज्ञान के विषय को मिथ्या जान लेने पर भो तद्विषयक शब्द प्रयोग शब्दानुसार ज्ञान और व्यवहार होता है, सो भाष्यकार कहते है कि विकल्प ज्ञान के वस्तु शून्य होते भी शब्दज्ञान के महिमा (शक्ति) निमित्तक व्यवहार=वाक्य प्रयोगादि दीखता है। जैसे, पुरुष=आत्मा=आत्मा=का चैतन्यस्वरूप है। ऐसा शब्द कहा जाता है, तहाँ इस शब्द के ज्ञान से पुरुष के चैतन्य का ज्ञान होता है, फिर उस का व्यबहार=कथन होता है, परन्तु पुरुष चैतन्य स्वरूप है, क्योकि वह निर्धर्मा है, स्वरूप के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, तथापि षष्ठी विभक्ति से सम्बन्ध कहा जाता है, और उसका बोध व्यवहार होता है, जैसे चेतन ही पुरुष है, तब किसके कौन सम्बन्ध किसके साथ कहा जा सकता है, तथापि व्यपदेश=व्यवहार होता है, जैसे वृत्तिः वर्तमान है चैत्र की गौ, यह व्यवहार होता है तैसा ही उक्त व्यवहार होता है, इसी प्रकार= प्रतिषिद्ध है, वस्तु=पृथिवी आदि के धर्म जिसमें सो प्रतिषिद्धर्मबाला निष्क्रिय=क्रियारहित पुरुष है, इस कथन से निषिद्ध धर्म वाला पुरुष को कहा जाता है, परन्तु निषेध से भिन्न धर्म पुरुष में नहीं रहते भी शब्द

के ज्ञान से व्यवहार होता है, वाण स्थिर हो रहा है स्थिर होगा, स्थिर हुआ है, यहाँ शब्द से वाण स्थिति अनुकूल वर्तमाना भावी भूत व्यवहार=क्रिया कही जाती हैं, परन्तु जड वाण में कोई क्रिया स्वतः रहती नहीं है, अतः वाण की गति की निवृत्ति होने पर स्था धातु के अर्थमात्र की प्रतीति उन प्रयोगों से होती है, वाण की क्रिया की नहीं। इसी प्रकार अनुत्पत्तिधर्मा, पुरुषः, अनुत्पत्तिधर्मवाला पुरुष (आत्मा) है, ऐसा प्रयोग होता है, तहाँ पुरुष की उत्पत्ति धर्म के अभाव मात्र प्रतीत होता है, पुरुष सम्बन्धी कोई धर्म नहीं। अतः सो अनुत्पत्ति धर्म विकल्पित कल्पना से सिद्ध=मिथ्या है, तौ भी उसका व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'भूमैव सुखम्' इत्यादि श्रुति से भूमा=ब्रह्म के सुख=आनन्द स्वरूप बोधित होते भी "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" ब्रह्म के आनन्द को जानने वालेविद्वान् किसी से भी डरते नहीं हैं, वह भी विकल्पित=मिथ्या भेद का व्यवहार श्रुतिसिद्ध है, सो प्रमाण भ्रम से विलक्षण बाध रहित है॥ ९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति र्निद्रा ॥ १० ॥

जाग्रत् स्वप्नकालिक वृत्तियों के अभाव=तिरोभाव के प्रत्यय कारण जो तमोगुणविशेष सो जिसका अवलम्बन=विषय हो, सो वृत्ति निद्रा कही जाती है। सो सुषुप्ति भी कही जाती है, उस समय बुद्धि के सत्त्व रजो अंश को तमो गुण अभिभव करदेता है, अतः बाह्य विषयों के अनुभव से रहित बुद्धि साक्षीस्वरूप से प्रकाशित होती हुई कथञ्चित अन्तः तमः सुखादि को अनुभव करती है। यदि कोई कहे कि सुषुप्ति में मोक्ष निरोध समाधि अवस्था के समान सर्वथा वृत्ति का अभाव रहता है, तो भाष्यकार कहते हैं कि--सा च, वह वृत्ति=प्रत्ययविशेष=ज्ञान विशेष रूप होती है, सो स्वयंबोधे प्रत्यवमर्श से=जागने पर स्मरणसे जाना जाता है, अनुभव जन्य संस्कार से स्मृति होती है, यदि सुषुप्ति में अनुभव नहीं हो तो जागने पर सुखादि का स्मरण नहीं हो सकता है, यदि कहा जाय कि कथम् कैसी स्मृति होती है, तो कहा जाता है कि—जब सत्त्वगुण सहित तमोगुण से निद्रा होती है, तब जागने पर कहता है कि सुख से मैं सोया था, मेरा मन प्रसन्न है, मेरी प्रज्ञा=बुद्धि को मन विशारद=स्वच्छ कर रहा है, जब

रजोगुण सहित तमोगुण से निद्रा होती हैं, तब जागने पर कहता है कि—दुःख से सोया, मेरा मन स्त्यान=अकर्मण्य=कर्मानर्ह होता हुआ भ्रमता है, अनवस्थित=चञ्चल रहता है, सत्त्वरजः के तमोगुण से अभिभूत अवस्था की निद्रा से जागने पर कहता है कि गाढ=कठिन मूढ होकर मैं सोया मेरे गात्र=अङ्ग गुरु=भार से हुए हैं, क्लान्तं=क्लेशयुक्त=ग्लानि वाला मेरा चित्त, अलस=जड़ मुषित=अपहृत के समान रहता है, ये उक्त प्रबुद्ध–जागने वाले के स्मरण, सुषुप्ति में वृत्तियों के अभाव के कारण तम के अनुभव के विना नहीं हो सकते हैं, यदि वृत्त्याभाव के कारण कारण का अनुभव नहीं, तो उस अनुभव के आश्रित-अधीन होने वाली उस कारण विषयक उक्त स्मृतियाँ भी नहीं हो सकती हैं और होती हैं, अतः ज्ञान विशेषरूप-नित्यमन्तव्य है। सो समाधि में अन्यवृत्ति के समान निरोद्धव्य है इत्यादि ॥ १० ॥

अनुभूतविषया संप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाणादि से अनुभूत=ज्ञात विषयो से जो असंप्रमोष=अस्तेय=चोर्याऽभाव सो स्मृति कही जाती है, अर्थात् अनुभूत विषयमात्र का ग्रहण, अधिक-विषय के ग्रहणाभावरूप=परस्वाऽग्रहणात्मक चित्तवृत्ति स्मृति होती है। क्योंकि संस्कारमात्र से जन्य ज्ञान रूप स्मृति के संस्कार के कारण अनुभव के विषयमात्र स्वविषय होता है, उससे अधिक का ग्रहण स्तेय तुल्य=पर-धनापहरण तुल्य होता है। अतः स्मृति अनुभूतमात्र का या गृहीत न्यून का ग्रहण करती है, अधिक का नहीं। भाष्यकार विचार करते हैं कि चित=क्या प्रत्यय=अनुभव के स्वरूपमात्र को स्मरण करता है, अहो स्वित्=अथवा अनुभव के विषय के स्वरूपमात्र का स्मरण करता है, उत्तर है कि=ग्राह्यविषय से उपरक्त=युक्त प्रत्यय=अनुभव होता है, अर्थात् विषयाकार से आकारित होता है अतः सो अनुभव, ग्राह्य=विषय, ग्रहण=ज्ञान उभयाकार से प्रभासने वाला होता है फिर उसी प्रकार के संस्कार को उत्पन्न करता है, फिर वह संस्कार अपने अभि-व्यञ्जक से व्यञ्जन=व्यक्त होकर तदाकार=अपने सदृश ही ग्राह्यग्रहण दोनों आकार वाली स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार से अनुभव स्मरण दोनों के ज्ञानज्ञेयात्मक होते भी, तत्र=उन दोनों में ग्रहण=अगृहीत

अनधिगत=अज्ञात का ग्रहणाकार=ज्ञानाकार=पूर्व=प्रधान हो जिसमें सो बुद्धि=अनुभूति कहाती है, ग्राह्य=अनुभव से गृहीत=अधिगत विषय जिस में पूर्व हो स्मृति कहाती है, ये दोनों में विशेष भेद हैं। फिर भी वह स्मृति दो प्रकार की होता है, एक भावित=कल्पित=स्मर्तव्य=विषय वाली, दूसरी=प्रभावित अकल्पित=सत्यस्मर्तव्य विषय वाली होती है। स्वप्न में भावित स्मर्तव्य वाली, जाग्रत्काल में अभावितस्मर्तव्य वाली होती है, वस्तुतः स्वप्न के ज्ञान भ्रमात्मक निद्रा दोष से होता है, परन्तु संस्कार जन्यत्व मात्र से स्मृति कहा गया है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानोसन्त्यथ
रथान रथयोगान् पथः सृजते ॥
वृ० ४:४। १०।

स्वप्न में व्यावहरिक रथ, रथमें जुटनेवाले घोड़े और मार्ग नहीं रहते किन्तु मन माया से रचे जाते हैं, इस से श्रुति सृष्टि कही गई है, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है, अतः स्वप्न स्मरण रूप नहीं हो सकता है तथापि ये उक्त सब स्मृतियाँ, प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा अनुभव से संस्कार द्वारा होती हैं, और सभी ये वृत्तियाँ सुख दुःख मोहात्मक होती हैं। और सुख दुःख मोह ये क्लेशों व्याख्येयः वक्तव्य हैं, सुखानुशयी राग, दुःखानुशयी द्वेष और मोह भी अविद्या हीं हैं, अतः ये सब वृत्तियां निरोधव्य हैं, इन के निरोध होने पर संप्रज्ञात या असंप्रज्ञात समाधि होती है ॥११॥

उक्तरीति से वृत्तियों के निरोध रूप द्विविध समाधि के लक्षण कहने पर उनके साधन की जिज्ञासा होती है कि—

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति

उक्त लक्षण कथन के अनन्तर कहना चाहिये कि, जो उक्तवृत्तियों के निरोध विरोध विषयक उपाय = साधन कौन है, उत्तर रूप सूत्र है कि—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास और वैराग्य से उनवृत्तियों का निरोध होता है, अतः अभ्यास वैराग्य निरोध का उपाय है। भाष्यकार कहते हैं कि चित्त=मन नामक

एक प्रसिद्ध नदी तुल्य नदी है, तहाँ प्रसिद्ध नदी तो किसी एक तरफ वहती=चलती है, परन्तु चित्तनदी उभयत = दो तरफ. वाहिनी= वहने=वाली होकर वहती है, अत एव कल्याणाय=पुण्याय=शुभाय, पुण्य के लिये और पाप के लिये भी वहती=प्रवृत्त होती चलती है। तहाँ जो कैवल्यप्राग्भारा = कैवल्यात्मक उन्नत प्रदेश उद्भवस्थान वाली=कैवल्य को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुई और विवेके विषय=विविक्त-आत्मस्वरूप निम्न=नीचे स्थानवाली होती है, सो कल्याणवहा=कल्याण को प्राप्त कराती है। संसार=शब्दादि विषय प्राग्भार-उद्गम स्थानवाली अविवेक के विषय कुप्रवृत्ति पापरूप निम्न-नीचे स्थानवाली पापवहा = पाप के फलदुःख नरकादि को प्राप्त कराने वाली होती है। तहां वैराग्य से विषय स्रोत-सांसारिक विषयाभिमुख चित्तप्रवाह खिली = निरुद्ध किया जाता है, विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेकस्रोत=विवेक प्रवाह उद्घाटित=व्यक्त किया जाता है, इस प्रकार से अभ्यास और वैराग्य इन दोनों के अधीन=दोनों साधनों से चित्तवृत्ति का निरोध होता है ॥१२॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र=उक्त अभ्यास वैराग्या में जो चित्त की स्थिति के लिये यत्न किया जाता है सो अभ्यास कहा जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि-अवृत्तिक-राजसतामस वृत्ति रहित चित्त की जो प्रशान्तः वाहिता=निर्मलनिरुद्ध प्रवाहवाली स्थिति होती है, उस स्थिति के लिये जो प्रयत्न-वीर्य-सामर्थ्य और उत्साह (धैर्य--उत्कण्ठा) होते हैं, उन वीर्यादिको की सम्पादन-सिद्धि प्राप्ति की इच्छा से उनके साधनों के अनुष्ठान-आचारण को अभ्यास कहा जाता है ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

वह अभ्यास चिरकालतक निरन्तर प्रतिदिन सदा व्यवधान रहित और सत्कार-प्रेम श्रद्धा अदिरसहित सेवित-अनुष्ठित = आचरित होने पर, दृढ भूमि दृढ अवस्था-स्थितिवाला होता है-कि जिससे व्युत्थान संस्कारादि विघ्नों से वाधित नहीं होता है।। कविने कहा है कि "विकारहेतो-सति विक्रियन्ते येषां न चित्तानि त एव धीरा' विकार-कामादि के कारण

रहते भी जिन के चित विकारी नही होते हैं वे ही धीर=धैर्यधारणायुक्त विद्वान् है । अतः

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्त चिन्तया ।

दद्यान्नावसरं किञ्चत् कामदीनां मनागपि ॥ १ ॥

सुषुप्ति और मरण पर्यन्त वेदान्त = ब्रह्म चिन्तन द्वारा समय बितावे, कामादि को कहीं कुछ भी अवसर नहीं दे, तब वह दृढावस्था होती है।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।

एतदेकपरत्वञ्च तदभ्यासं विदु र्बुधाः ॥ २ ॥

गुरु शास्त्र से श्रुत असंदिग्ध अर्थ में भी बुद्धि की स्थिरता के लिये, उसका चिन्तन कथन परस्पर समझना रूप प्रबोधन, इन सब के द्वारा इस एकतत्त्व परायण = तत्पर होना, इसी को विद्वान् अभ्यास समझते है ॥ १४ ॥

दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५॥

दृष्ट=इस लोक अनुभूत विषय और अनुश्रव=वेद से ज्ञान आनुश्रविक-विषय के वितृष्णा रहित को जो वैराग्य होता है, उसकी वशीकार संज्ञा (नाम) कही जाती है। भाष्यकार कहते हैं कि—स्त्री अन्न पान=पेय वस्तु, ऐश्वर्य=अधिपतित्व इन दृष्ट विषयक तृष्णारहित को, तथा स्वर्ग-वैदेह्य स्थूलदेह विनाकरणो में लीनावस्था वाले देव विशेष, तथा प्रकृति उपासक से प्रकृति में लयत्वकी प्राप्तिवाले की अनुश्रविक विषय की तृष्णा रहितों को दिव्य अदिव्य विषयों के सम्बन्ध हाने पर भी विषयो के दोषदर्शी चित के जो प्रसंख्यान = विवेक ज्ञानाऽभ्यास के बल से जो विषयों का अनाऽभोगात्मिका=उपेक्षा बुद्धि=तुच्छत्वबुद्धि हेयोपादेय से शून्य रहित होती है, सो वशीकार संज्ञा वैराग्य कहा जाता है। इससे प्रथम यतमान संज्ञा व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा तीन वैराग्य का भी वर्णन करते हैं, तहां चित्त में कामादि अनेक दोष रहते हैं कि जिनके बल से इन्द्रियों को विषयों में विशेष प्रवृत्ति होती हैं उनकी

निवृति के लिये यत्नारम्भ करना यतमानसंज्ञा होती है, यतन से कुछ दोषों की निवृत्ति होनेपर अनिवृत्त दोषों को विवेकपूर्वक समझना उनकी निवृत्त के लिये यत्न करना व्यतिरेक संज्ञा होती है, सब दोषों की निवृत्ति होने पर मनमें उत्कण्ठा आदि रहते एकेन्द्रिय संज्ञा होती है, तब वशीकार संज्ञा होती है ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुष ख्याते र्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

चिदात्मा पुरुष की ख्याति=सत्त्वाऽनुभूति=उपलब्धि से जो त्रिगुण के कार्यस्वरूप सर्वज्ञात्वादि सर्वसिद्धि सम्पति विषयक वैतृष्णा रहितत्व होता है, सो पर=सर्वोत्तम वैराग्य कहा जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि– दृष्ट और आनुश्रविक वेदादि के श्रवण से ज्ञात विषयों के क्षयिष्णुत्वादि दोषों को जानने वाला विरक्त=अपरवैराग्य युक्तयोगी, शास्त्र अनुमान गुरुवाक्य से प्राप्त पुरुष=आत्म दर्शन के अभ्यास से, उस दर्शन की शुद्धि=रजस्तमोरहितता और प्रकृष्ट=उत्तम विवेक से आप्यायित पुष्ट पूर्ण बुद्धि वाले योगी व्यक्ताव्यक्तधर्मक=कार्यकारणात्मक सबगुणों से विरक्त होता है। इति उक्त रीति से वे दोनों अपर पर वैराग्य कहे गये हैं, उनमें जो उत्तर = उत्तम पर वैराग्य होता है, सो विवेक ज्ञान के प्रसादमात्र=स्वच्छतामात्र=रजोलेशरहित स्वरूप होता है, अतः जिस ज्ञान प्रसाद के उदय होनेपर प्रत्युदित=प्रगट=प्रत्यक्ष–विवेकख्याति=अनुभूति वाला योगी ऐसा मानता है कि—प्राप्तकरने योग्य = प्रापनीय = कैवल्य = मोक्ष-प्राप्त हो चुका, क्षेतव्य–नष्ट करने योग्य क्लेश–अविद्यादि क्षीण–नष्ट हो गये, श्लिष्ट निःसन्धि–निरन्तर पर्व=भाग अवस्थावाले संसार के संक्रमण=जन्म मरणादि छिन्न विभिन्न हो गये, जिसके अविच्छेद अभेदन से प्राणी जन्म पा कर मरता है, मर कर पुनः जन्मता है सो भवसंक्रम छिन्न=भिन्न हुआ। ज्ञान की पराकाष्ठा उत्तमा सीमा वैराग्य है, इस वैराग्य केही नान्तरीयक=अविनाभावि=अन्तर्गत व्याप्य कैवल्य–जीवन्मुक्ति है ॥ १६ ॥

प्रथम सामान्य रूप से योग और योग के साधन कहे गये हैं, विशेषरूप से कहना है, तहां प्रथम प्रश्न है कि–अभ्यासवैराग्यरूप दो उपाय साधन से निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले योगी कथं किस प्रकार वाला सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। उत्तर है कि—

वितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमात् संप्रज्ञातः ॥१७॥

वित्तर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता रूप पदार्थो के अनुगम सम्बन्ध-विषय होने से उनके साक्षात्कार स्वरूप सम्प्रज्ञात चार प्रकारका होता है। भाष्यकार कहते हैं कि चित्त के अलम्बन-ध्येयविषयक जो स्थूलभूते-न्द्रिय विषयक ज्ञान का आभोग ज्ञान की परिपूर्णता—अपरोक्षता होती है, सो सवितर्क संप्रज्ञात योग समाधि होता है। अर्थात् "विशेषः सहितम् तक्यते=ज्ञायते=इति वितर्कः। विचार इन्द्रिय जनित अविविक्त चिदात्मा सहित स्थूल देवमूर्ति गुरुमूर्ति वितर्क कहाते हैं, इनविषय-ध्यानज समाधि सवितर्का होती है, इनके अपरोक्ष ज्ञानके पूण होने पर भी ध्यान के अभ्यास करने पर इन स्थूल स्वरूप को त्याग कर इन के सूक्ष्म स्वरूप के विचार विचार विषयक ध्यान हो जाता है, फिर उसके अभ्यास से विचार के आभोग-परिपूर्णता=सूक्ष्म की अपरोक्षता रूप सविचार संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, फिर उसके अभ्यास करते रहने पर विचार को त्यागकर आनन्द जनक स्वेष्ट की स्तुति रूपादि के हेतु ज्ञानेन्द्रिय विषय ध्यान हो जाता है, उससे इन्द्रिय जन्य आनन्दके ज्ञानका आभोग=परिपूर्णता रूप आनन्दानुगत सानन्द सम्प्रज्ञात होता है। इन तीनों को भाष्कार कहते है कि चित्त के आलम्बन=ध्येय विषयक स्थूल=स्थूलविषयक साक्षात्कार आभोग=परिपूर्णः प्रथमः संम्प्रज्ञातः १ चितालम्बेने सूक्ष्मे सूक्ष्मः सूक्ष्मसाक्षात्कार आभोग=पूर्णविचार होता है ॥२॥ आनन्द=आनन्दानुभवः आह्लाद कहा जाता है उसका परिपूर्णता सानन्द संप्रज्ञात होता है, ३ अविविक्त चिद्चिद् एकात्मक-एकात्मविषयक सम्वित् अपरोक्षानुभव अस्मिता=अस्मिताऽनुगत-सास्मित सम्प्रज्ञात= होता है इन चारोमें प्रथम सम्प्रज्ञात=वितर्क=स्थूल सूक्ष्य=विचार= आनन्द=इन्द्रिय और अस्मिता इनचारो से अनुगत=युक्तचारो विषयक संप्रज्ञात होता है सो सवितर्क समाधि कही जाती है॥१॥ वितर्क= स्थूल विषय रहित दूसर सविचार कहा जाता है॥ २॥ विचार रहित तृतीय सानन्द कहा जाता है, ॥ ३॥ आनन्दरहित चतुर्थ अस्मितामात्र= सास्मित कहा जाता है॥ ४॥ ये सब सालम्वन-सविकल्प-सविषयक समाधि होती है॥१७॥

उक्त संप्रज्ञात के लक्षणादि के कहने के अनंन्तर प्रश्न होता है कि—

असंप्रज्ञात समधि किस उपाय-साधन वाली तथा किस स्वभाव वाली होती है, उत्तर है, कि—

विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः ॥१८॥

सभी प्रत्यय-ज्ञानो के विराम = उपरति अभाव के प्रत्यय = कारण जो पर वैराग्य उसके अभ्यासपूर्वक परवैराग्य के अभ्यास रूप उपाय = साधन वाला, तथा प्रत्यय = ज्ञान के संस्कारमात्र शेष वाला संप्रज्ञात से अन्य-स संप्रज्ञात समाधि होती है। भाष्यकार कहते हैं कि चित्त के सब वृत्तियों के प्रत्यस्तमय=विलय=अभाव होने पर जो संस्कार के शेष वाला संस्कार सहित = चित्तका निरोध=चित्तवृत्ति का निरोध होता है, सो असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है, उस समाधि का पर वैराग्य उपाय=साधन है, क्योंकि सालम्बन = सविषय, सम्प्रज्ञात योग अभ्यस्त होने पर भी उस असंप्रज्ञात के साधने=सिद्धकरने के लिये नहीं समर्थ होता है, अतः विराम-प्रत्यय=पर वैराग्य=निर्वस्तुक=ध्येयविषय रहित ही योगियों से आलम्बन-आश्रयण किया जाता है। वह विराम प्रत्यय=पर वैराग्य अर्थशून्य ध्येय विषय रहित रहता है, अतः उसके अभ्यासपूर्वक सिद्धचित्त का स्वरूप भी निरालम्ब-निर्विषय, अभावप्राप्त के समान होता है, ऐसी स्थिति-अवस्था ही निर्वीज समाधि असंप्रज्ञात कही जाता है ॥ १८ ॥

भाष्यकार कहते हैं कि—छ=पूर्वोक्त सर्ववृत्तिनिरोधात्मक असंप्रज्ञात निश्चित दो प्रकारवाली-द्विविध होती है, तहाँ मुख्य उपाय प्रत्यय=विवेक परवैराग्य रूप उपाय-साधन, प्रत्यय = कारण हो जिस का सो उपाय रूप कारणवाला उपायप्रद-उपायकारक होता है, १ दूसरा अमुख्य भवप्रत्यय-भवविदेहत्वात्म या प्रकृति स्वरूप संसार भाविसंसार के हेतु जिस कारण हो सो भवप्रत्यय-भव-संसार रूप कारण वाला कहा जासा है, भवकारणक होता है ॥ २ ॥ तत्र-उन दोनों में उपायप्रत्यय-उपायस्वरूप प्रत्यय-कारणवाला मुख्य असंप्रज्ञात योगियों को होता है, और सूत्रकारक कहते हैं कि—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९।

स्थूल देह के दोषों के दर्शन से देह से विरक्त होने पर भी विवित्त-चिदात्मा के ज्ञान रहित होने के कारण जो एकादशेन्द्रिय पांच महाभूतरूप

षोडश-सोलह विकार के तथा मूल प्रकृत्ति महतत्त्व अहंकार पञ्चतन्मात्रारूप अष्टविधप्रकृति के अभिमानी होते हैं, इन में आत्मत्वबुद्धि करते हैं, या इन की उपासना चिन्तनादि करते है, सो स्थूल, वृत्ति-ज्ञानविशेषयोग्य देह रहित विदेह देवभाव को प्राप्त होते हैं, या प्रकृति में मरने पर लीन होते है, उन विदेह देव और प्रकृति में लय वाले कों स्वभाव से ही असंप्रज्ञात सिद्ध होता है, सो भवप्रत्यय–भवकारक होता है। भाष्यकार कहते हैं कि विदेह-देवों को भवप्रत्यय-भवकारक-असंप्रज्ञात हैं, क्योंकि वे देव–अपने–बैराग्यके संस्सार के उपयोग = फलवालेचित्त से कैवल्यपद–मुक्त स्वरूप = सर्ववृत्ति रहित स्वरूप को अनुभव करते हुए, अपने देव प्रापक संस्कार के विपाक = फल = ऐश्वर्यादिक तथा जातीयक–संस्कारानुसारवाले को अतिवाहयन्ति अति = क्रमण–त्याग करते हैं भोग कर संस्कार फलों से रहित होते है। प्रकृति में लय होनेवाले–भोगमोक्ष के अधिकारयुक्तचित्त के प्रकृति में लीन होने पर, जबतक अधिकार के वश = बल से चित्त फिर = संसार में आवृत्त = प्रवृत्त नहीं होता है तबतक कैंवल्यपद के समान वृत्ति रहित अवस्था का अनुभव करते है, फिर संसारी होते हैं ॥ १६ ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

इतर = विदेह प्रकृतिलय से अन्य के, असंप्रज्ञात समाधि श्रद्धा-विश्वास प्रीति, वीर्य = सामर्थ्य, स्मृति = ध्यान = चिन्तन और समाधिप्रज्ञा = समाधि जन्य प्रकृष्ट–उत्तम विवेक ज्ञान इन साधन पूर्वक इनसे जन्य होता है। भाष्यकार कहते है कि–उपाय प्रत्यय उपायकारण वाला असम्प्रज्ञात योगियों को होता है। तहाँ चित्त के संप्रसाद प्रसन्नता को श्रद्धा कहा जाता है। सो श्रद्धा ही जननी के समान कल्याण कारिणी होकर योगी की रक्षा करती है, क्योंकि श्रद्धान–श्रद्धावाले विवेकार्थी उस योगी को वृत्तिनिरोधादि के वीर्य्य–शक्ति उत्पन्न होती है। उत्पन्न वीर्य वाले को स्मृति–ध्यान प्राप्त होता है। स्मृति के प्राप्त होने पर अव्याकुल = विक्षेप रहित चित्त समाहित–एकाग्र होता है, समाहित–एकाग्र चित्तवाले को प्रज्ञाविवेक–प्रकृष्ट आत्मज्ञान के विवेक = विशदता = उत्कर्ष प्राप्त होता है कि जिससे योगी ध्येय वस्तु को यथावत–यथार्थ स्वरूप से जानता है, फिर उसप्रज्ञा विवेकज्ञान के अभ्यास से और उसज्ञान विषयक वैराग्य से जन्य असंप्रज्ञात समाधि होती है ॥ २० ॥

उक्तश्रद्धा आदिके समाधिकी सिद्धिप्राप्ति के कारण होते भी सब योगी को सम कालमें सिद्धि नहीं होती है उसमें कारण को समझाने के लिये प्रथम भाष्यकार नव विधयोगी का वर्णन करते है कि—

ते खलु–पूर्वोक्तः मृदुमन्द, मध्य अधिमात्र–पूर्ण–श्रेष्ट–उत्तम उपाय–साधन वाले नवसंख्याक योगी होते है। सो जैसे होते हैं सो कहा जाता है कि मृदूपाय–मन्द उपायवाला १, मध्यौपाय–मध्यम उपायवाला २, अधिमात्रोपाय–उत्तम उपायवाला ३, ये तीन होते है, उनमें मृदु उपायवाला भी तीन प्रकार का होता है।

मृदूपायमृदुसंवेग–इच्छा प्राबल्य १, मृदुपायमध्यसंवेग २ मृदूपायाऽधिमात्र संवेग ३, मध्योपायमृदुसंवेग ४ मध्यौपायमध्यसंवेग ५, मध्योपायाधिमात्र संवेग ६, अधिमात्रोपायमृदुसंवेग ७, अधिमात्रोपायमध्यसंवेग ८, अधिमात्रोपायाधिमात्र संवेग ९, इसरीति से मृदुमध्यधिमात्रोपायवाले के भी तीन भेद होने से नव प्रकार के योगियों में अधिमात्र उपायवाले—

तीव्र संवेगानामासन्नः ॥ २१ ।

तीव्र संवेग – अधिमात्रसंवेग=तीव्रइच्छावाले को आसन्न=शीघ्र समाधिकालाभ (प्राप्ति) होता है, संप्रज्ञातशीघ्रप्राप्त होता है, तथा उसके फल असंप्रज्ञात, और असंप्रज्ञात के फल कैवल्य भी शीघ्र प्राप्त होता हैं ॥१॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

उक्त तीव्र संवेग में भी मृदुमध्याऽधिमात्रत्व के भेद से उससे भी विशेष = अधिक भेद होता है॥ मृदुतीव्र, मध्यतीव्र अधिमात्रतीव्र, ये पूर्वोक्त नव से भी विशेष अधिक हैं॥ तद्विशेषात् = पूर्वोक्तनवम के विशेष = भेद होने से, मृदुतीव्र संवेग वाले को आसन्न समाधिलाभ होता है, मध्यतीव्रसंवेग वेगवाले को आसन्नतर = अति आसन्न लाभ होता हैं अधिमात्रतीव्रसंवेगलाभ अधिमात्रोपाय वाले को उससे आसन्नतम = अत्यन्त शीघ्र समाधि प्राप्त होती हैं॥ और समाधिका फल भी प्राप्त होता हैं॥ २२॥

जिज्ञासा होती हैं कि क्या इस उक्त तीव्र संवेग = संप्रज्ञात समाधि से ही आसन्नतम = अतिशीघ्र समाधि लाभ होता है, अथवा रस के लाभार्थक कोई अन्य भी उपाय साधन हैं या नही है तो कहा गया हैं कि—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥ २३ ॥

साधनान्तर भी हैं, क्योंकि उक्त तीव्र संवेग से वा = अथवा ईश्वर के प्रणिधान चिन्तन ध्यान रूप भक्ति विशेष से आसन्नतम समाधि का लाभ होता है ।। भाष्यकार कहते हैं कि भक्ति विशेष मात्र से आवर्जित = अभिमुखीकृत = प्रसन्न ईश्वर अभिध्यान मात्र से ही उस ध्याता भक्त योगी कों अनुगृहीत करता हैं, उस के लिए अनुग्रह कृपा=दया करता हैं, कि जिससे उस ईश्वर के अभिध्यान से भी योगी को आसन्नत = अति शीघ्र समाधि लाभ और फल लाभ भी होता है ।। २३ ।।

उक्त ईश्वर की भक्ति को सुनने पर अनीस्वरवादी की शंका उपस्थित होती है कि—जगत के उपादान कारण प्रधान=मूल प्रकृति, और निमित कारण चेतनात्मा पुरुष से भिन्न यह ईश्वर नामक वस्तु क्या है—प्रकृति भी पुरुष के सन्निधिमात्र से चेतनावती होंकर बुद्धि को उत्पन्न करती है, फिर बुद्धि भी पुरुष सन्निधिमात्र से चेतनावती के समान हो कर अहंकारादि को रचती है और सन्निधिमात्र से चेतनावत्त्व के कारण होने के कारण ही निर्व्यापार उदासीन भीं पुरुषनिमित होता—है, फिर ईश्वर को क्यों स्वीकार किया गया है—इस का समाधान सूत्र से किया गया है कि-—

क्लेश कर्म विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥२४॥

अविद्या अस्मितादि रूप पांच क्लेश, क्लेशकारण, कुशलाकुशल=पुण्य पाप रूप कर्म, उन कर्मो के जन्म आयु भोग रूप विपाक=फल, फिर उस विपाक फल के अनुसार आशय=वासना=जन्मवासना आयुवासना सुखदुःखादि भोगवासना, इन सब से सदा अपरामृष्ट=असम्बद्ध=इनके स्पर्श=सम्बन्ध से रहित जो पुरुषों में विशेष=विलक्षण पुरुष सो ईश्वर है। क्लेशादि स्पर्शाभाव ही अन्य पुरुषों से ईश्वर में विलक्षणता है । यहां शंका होती है कि सभी पुरुषो के अपरिणामी होने के कारण सभी क्लेशादि से असंस्पृष्ट हैं अतः यह ईश्वर की विलक्षणता नहीं हो सकती है, तब भाष्यकार समाधान करते हैं कि, ते च, वे क्लेशादि मन में वर्तमान रहते है, परन्तु ईश्वर भिन्न पुरुष में उनका व्यपदेश=गौण=मिथ्या व्यवहार=कथन

होता है और ईश्वर में ऐसा भी नहीं होता है, अतः विलक्षणता है, असंग-ईश्वरान्य पुरुष में भी गौण व्यवहार क्यों होता है, इसका उतर दिया गया है कि—"सहित तत्फलस्य भोक्तेति" वह उनकर्मादिके फलों का भोक्ता है, चेतयिता=प्रकाशक है, अतः मन के धर्मका पुरुष में व्यवहार होता है, इस व्यवहार को करने वाली भी बुद्धि है, तहाँ जैसे योद्धा के जय पराजय का स्वामी में व्यवहार होता है, तैसे मन के धर्मो का पुरुष में व्यवहार होता है, जो इस प्रकार से इस गौण कल्पित भोग से भी अस्पृष्ट है सो पुरुष विशेष ईश्वर है, यहां शंका होती है कि कैवल्य=मोक्ष को प्राप्त किये हुए=उक्त गौण कल्पित भोग व्यवहार विषयता से रहित तो वहुत केवली=मुक्त पुरुष भी हैं, उनमें भी ईश्वरता प्राप्त होती है, समाधान है कि वे मुक्त पुरुष, प्राकृतिक=प्रकृतिलयनिमित्तक, विदेहदेवों के वैकारिक बन्ध और दिव्यादिव्य भोग भोगियों के दक्षिणाबन्ध, इन तीनों को नष्ट करके कैवल्य को प्राप्त किये हैं, अतः उनमें प्रथमबन्ध था और ईश्वर को न भूतवन्ध सम्बन्ध था न भावी बन्ध संबन्ध होना है, वह मुक्तों से विलक्षणता है। अतः जैसे मुक्त की मुक्ति से पूर्वा=पूर्वकालिक बन्धकोटी=बन्धभाग निश्चित होता है, इस प्रकार ईश्वरके बन्ध कोटि है नहीं, न निश्चित होता है, और प्रकृतिमें लीन के जैसे उत्तर कालिक=लयसे व्युत्थान-कालिक बन्ध कोटि=बन्धभाग=बन्धस्वरूप सम्भावित=निश्चित है, ऐसा ईश्वर के नहीं। अतः वह ईश्वर सदा ही मुक्त=नित्यमुक्त है, और सदा ही ईश्वर=ऐश्वर्यवान् है। शंका होती है कि जो वह प्रकृष्ट=तमोरजो लेश रहित शुद्ध सत्त्व सर्वज्ञता युक्त बुद्धि के उपादान=उपाधिरूप से ग्रहण के कारण ईश्वर के शाश्वतिक=नित्य उत्कर्ष=अतिशय है, सो क्या सनिमित्त=सप्रमाण=प्रमाण सिद्ध है, अथवा निर्विभिक्त=निष्प्रमाणक=प्रमाण रहित है, शंका का समाधान है, कि उस सत्त्व उत्कर्ष का शास्त्र निमित्त=प्रमाण है, तो फिरशास्त्र किंनिमित्त=किस प्रमाण वाला है, उत्तर है कि प्रकृष्ट=शुद्धसत्त्व प्रमाण=निमित्तवाला शास्त्र है। और ईश्वर के सत्त्व=चित्त=बुद्धिमें वर्तमान ये उक्त शास्त्र को अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् ईश्वर की वृद्धिमें सत्त्व का उत्कर्ष सदा रहता है, और उसका वाचक शास्त्र भी सदा रहता है, अनादि सर्ग प्रवाह में उसका अभाव कभी नहीं होता है, उसी से सर्ग की रचना ईश्वर करता है। अतः एतस्मात्=

इस ईश्वरबुद्धिके प्रकर्ष के बाचक शास्त्र से यह होता है, समझा जाता है कि--ईश्वर ईश्वर ही रहता है, कभी अधिकारी पुरुषो के समान अनीश्वर नहीं रहता है, और सदा ही मुक्त=बन्ध रहित रहता है, अन्य-मुक्तके समान प्रथम बद्ध नहीं रहता है। यह नित्य मुक्तत्वादि उस ईश्वर के ऐश्वर्य=शक्ति सम्पति विभूति, अन्य ऐश्वर्य से साम्य अतिशय से विनिर्मुक्त=रहित है। क्योंकि तत्=वह ईश्वर के ऐश्वर्य-ऐश्वर्यान्तर=अन्य ऐश्वर्य से अतिशयित=हीनत्वयुत युक्त कभी नहीं किया जाता है। अधिकारियों का ऐश्वर्य सदा ईश्वरैश्वर्याधीन रहता है। अतः जो ही ऐश्वर्य अतिशायी=अतिशययुक्त=सर्वश्रेष्ट होगा, सोई तत् = साम्यातिशय निर्मुक्त होगा इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस में ऐश्वर्य की काष्ठा = अन्तिम सीमा की प्राप्ति है, सो ईश्वर है। उस ईश्वर के ऐश्वर्य के समान अन्य है। ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि तुल्य ऐश्वर्य वाले दो ईश्वर के होने पर, किसी समकाल मे वाञ्छितार्थ विषयक एक एक का संकल्प हो कि यह-नव = नवान सुन्दर हो दूसरे का संकल्प हो कि यह पुराण जीर्ण = असुन्दर हो, तहाँ एक के संकल्प के अनुसार कामित = वाञ्छितार्थ की प्रसिद्धि = प्राप्ति होनेपर दूसरे के प्राकाम्य = संकल्प = अविहतेच्छत्व विघात = नाश से उसमें ऊनत्व हीनत्व प्राप्त = होगा। और दोनों के कामितार्थ के विरुद्ध होने के कारण = तुल्य दोनों के युगमत = समकाल में कामितार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः जिसके साम्यातिशय से रहित ऐश्वर्य है। सो ईश्वर है और वही पुरुष विशेष = अन्यपुरुषों से विलक्षण है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥१॥
न तस्यकार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥२॥

श्वेता० अ० ६।७-८

जगत की उत्पत्ति के कारण ईश्वर ब्रह्मादि का तथा वैवश्वत यमादि रूप ईश्वरों परम महान ईश्वर, इन्द्रादि देवो का परमदेव प्रजापतियों का परम पति, स्वकार्यो से पर अविद्या उससे भी पर, भुवनेश भुवनों का

स्वामी अत एव से इड्य स्तुती के तं = पूर्वोक्त सर्वोत्तम देव को हम जानते भजते हैं॥ १॥ उसके कार्य=शरीर=करण इन्द्रिय नहीं है, न उसके तुल्य या अधिक दीखता है, इसकी परा=उत्तमा विविध प्रकार की शक्ति सुनी जाती है, तथा स्वाभाविकी मायिक–ज्ञानक्रिया=सर्वज्ञत्वादि सुनी जाती है, और सर्वाधारत्व आदि बलक्रिया=कार्य सुनी जाती है॥ २॥

इत्यादि श्रुतिके अनुसार होने से ईश्वर विषयक भाष्यकार का विचार सत्य है, परन्तु मुक्तात्माविषयक "कैवल्यप्राप्तास्तर्हि सन्ति च वहवः केवलिनः" कैवलय को प्राप्त तो बहुत केवली हैं, इत्यादि कथन सर्वथा श्रुतियुक्ति विरूद्ध है, क्योंकि जीवों के व्यवहारिक स्वरूप में औपाधिक स्वरूप में भेद होते भी पारमार्थिक स्वरूप में वन्धावस्थामें भी भेद नहीं रहता है, मोक्षावस्था में वह व्यावहारिक भेद भी उपाधि की निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १॥

क० २।४।१५

जैसे शुद्ध जल में प्रक्षिप शुद्धजल तत् स्वरूप हो जाता है, हे! गौतम नचिकेता विज्ञानी मुनि की आत्मा इसीप्रकार ब्रह्मस्वरूप भेदादि रहित हो जाती है॥ १॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥२॥

मुण्डक० ३।२।७

ज्ञानी के विदेह मोक्ष काल में प्राणादि पञ्चदशकला अपनेप्रतिष्ठा को प्राप्त=कारण को प्राप्त होते हैं, नेत्रादि के अधिदेव=देवांश अपने प्रतिदेव= अंशीदेवसूर्यादि में प्राप्त होते हैं और प्रारब्धकर्म से अन्य कर्म तथा विज्ञान-मय=बुद्धिचिदाभासमय कर्मादि कर्ता जीवात्मा ये सब प्रकृति आदि से पर अव्यय=निर्विकार ब्रह्म में एक तत्स्वरूप होजाते है॥ २॥ जैसे नदियाँ अपने नामरूप को त्यागकर समुद्रमें प्राप्त होनेपर समुद्र में लीन होती है, तैसे विद्वान् उपाधिगत नामरूप को त्यागकर पर परदिव्य ब्रह्मस्वरूप होता है॥ २॥ अत एव—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ॥ ४ ॥

अतः मुक्त के बहुत्व कथन सर्वथा अयुक्त है। श्रीकबीर साहब कहते है कि—

जाको मुनिवर तप करैं, वेदथकैं गुण गाय।
सोई देउँ शिखापना, कहि न कोइ पतियाय ॥ १ ॥
एकहि ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक हो आया।
परिचय भया जो एकते, एकहि माँह समाया ॥ २ ॥

जिस अनन्त को एक से परिचय भया=एक का अनुभव हुआ सो सब एक में समा गया। इत्यादि। २४। बी साखी १३१–१३२

उक्त रीति से ईश्वर के सर्वाधारत्व सर्वज्ञत्वादि को श्रुति के अनुसार वर्णन करके, सर्वज्ञता में अनुमान का वर्णन है कि—किञ्च, और भी

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ॥२५॥

तत्र=उस ईश्वर में निरतिशय=अतिशय=उत्कर्ष रहित, सर्वज्ञ का बीज=कारण=हेतु=अनुमापक है, अतः ईश्वर निरतिशय=सर्वोत्तर सर्वज्ञ हैं॥ भाष्यकार कहते हैं कि जो यह देव=ऋषि सिद्ध योगी आदि में, अतीत=भूत=अनागत=भावी=प्रत्युत्पन्न=वर्तमान प्रत्येक=एक एक, समुच्चय=समूह का अतीन्द्रिय अन्य भी परमात्म आदि का ग्रहण होता है ज्ञान होता हैं, सो सब देव देवादि में तुल्य नहीं होता है, किन्तु कहीं अल्प कहीं बहु ग्रहण होता है, परन्तु यह ग्रहण=ज्ञान साधारण मनुष्यादि की अपेक्षा सर्वज्ञ का बीज=हेतु=कारण बोधक अनुमापक होता है, अथवा सर्वज्ञ बीज वाला होता है, सर्वज्ञता के बिना भूतादि का किञ्चिन्मात्र भी ग्रहण नहीं हो सकता है, परन्तु यह अल्प बहुभेद वाली सर्वज्ञता सातिशय कहाता है, क्योंकि अल्प से बहु में उत्कर्ष रहता है, ऐसे बहुतर, बहुतम भी सर्वज्ञता हो सकती है। यही सर्वज्ञ बीज बढ़ता हुआ जहाँ निरतिशय हो जाता है, सो सर्वज्ञ ईश्वर है। क्योंकि सर्वज्ञ बीज के सातिशय होने से उसकी काष्ठा प्राप्ति सीमा प्राप्ति=निरतिशयता भी अवश्य है। जैसे घट मठादि प्रमाण के अल्प बहु सातिशय होने पर आकाशादि में काष्ठा प्राप्ति होती है। उक्त रीति से जहाँ ज्ञान की सीमा प्राप्ति होती है, सो सर्वज्ञ

है, और वही पुरुष विशेष है। उक्त रीति से सामान्य मात्र=ईश्वरसत्त्व मात्र के उपसंहार=अन्तिम निश्चय में कृतोपक्षय=कृतपर्यवसान वाला, कृत स्व नाश वाला अनुमान होता है, अतः ईश्वर के विशेष स्वरूप नामादि के प्रत्तिपत्ति=ज्ञान में समर्थ नहीं होता है, उस ईश्वर के प्रणवादि संज्ञा आदि विशेष की प्रतिपत्ति=ज्ञान=आगम=शास्त्र से पर्यन्वेषणीय=प्राप्त करने योग्य है। यद्यपि नित्य तृप्त मुक्त उस ईश्वर को स्वानुग्रह=स्वोपकार=स्वप्रयोजन का अभाव है, तथापि अनादि बद्ध प्राणियों का अनुग्रह=उपकार रुप प्रयोजन=फल है, क्योंकि कल्प प्रलय महाकल्पों में ज्ञान-धर्म के उपदेश द्वारा संसारी का उद्धार करूँगा, ऐसी इच्छा से ईश्वर कल्यादि को रचता हैं॥ सो कहा है कि आदि विद्वान् परम ऋषि=सर्वज्ञ भगवान्=बिर्वाण स्वनिर्मित्त=मुक्तचित्त को अधिष्ठाय आश्रित्य जिज्ञासायुक्त आसुरि के प्रत्ति तत्व का उपदेश दिया इति ॥

निर्गतमान=परिमाणवाला=विभु निर्माणचित्त को अधिष्ठाय, अथवा निर्गतमान=अभिमानवाला निर्माण मुक्तचित्त को आश्रयण करके भगवदवतार विशेष श्रीकपिल मुनि ने उपदेश दिया॥ यह अर्थ प्रतीत होता है, तहाँ सांख्ययोग मत में मुक्तात्मा एक ब्रह्म में लीन तो होते नहीं है। अतः कपिल मुनि से पूर्वकालिक भी अनन्त विद्वान् हो सकते हैं, यद्यपि, तथापि वर्तमान कल्प की दृष्टि से आदि विद्वान् कहे जा सकते हैं, तहाँ भी विचार उपस्थित होता है कि=अनन्त चिन्मात्र निर्विकार उदासीन सब पुरुष है, और अनन्त ही बुद्धि भी है, सो पुरुष सन्निधि से चिद्वत् होती हैं, तहाँ निर्विशेष पुरुषों को बुद्धियों के साथ विशेष ममता आदि रूप सम्बन्ध हो नहीं सकता है, किन्तु सहस्र दोष से सहस्र समीपवर्ती घट दर्पादि समरूप से प्रदीप्त होता है, तैंसे विभु अनन्त पुरुष से अनन्त बुद्धि प्रदीप्त होती है, अतः बुद्धि पुरुष मैं स्वस्वामी भाव रूप से हो नहीं सकता हैं, अतः यह जो कहा जाता है कि योद्धा के जय-पराजय का जैसे स्वामी में व्यवहार होता है, तैसे बुद्धिकृत व्यवहारों का बुद्धि के स्वामी पुरुष में व्यवहार में व्यवहार होता है, इत्यादि सो सब अयुक्त ही है, किन्तु ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्यं, अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य, इन आठ अपने परिणामों में प्रथम परिणाम ज्ञान-बिवेकानुभव से प्रकृति=बुद्धि ही अपने को कर्तव्यों से मुक्त करती है, और उक्त सात रूप से अपने को बांधती हैं, अतः आदि विद्वान् कपिल भी बुद्धि विशेष

रूप हैं, अन्य नहीं ।। ऐसे विद्वान् मुक्तों के भी सांख्ययोग मत में वास-विशेष ग्राम=समूह विशेष मान्य प्रतीत होता है । परन्तु श्रुति के अनुसार वासादि मुक्त के नहीं हैं ।

मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थि नाशो मोक्ष इति स्मृतः ।।१।।

मोक्ष=मुक्त का वास स्थान नहीं हैं, न ग्रामान्तर है, किन्तु अज्ञान और हृदय के कामादि ग्रन्थियों बन्धनों का नाश ही मोक्ष कहा जाता है ।।१।।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।१।।
मुण्डक २।२।८

तिस सर्वज्ञ पराऽवर=कारण कार्य स्वरूप परमात्मा के दृष्ट=प्रत्यक्ष होने पर, इस द्रष्टा विज्ञानात्मा जीव के हृदयगत अविद्या वासना कामादि ग्रन्थि छिन्न भिन्न नष्ट हो जाते हैं, सब प्रमाण प्रमेयादि विषयक संशय क्षीण=नष्ट हो जाते हैं, कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।।१।।

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति" बृ० ४।४।६ जो श्रुति के अनुसार ब्रह्मात्मज्ञ होते हैं सो उक्त रीति से हृदय ग्रन्थि आदि के नष्ट हो जाने के कारण सब कामों से रहित जीवन दशा में ही ब्रह्मस्वरूप होते हुए विदेह मुक्ति अवस्था में ब्रह्म में लीन=ब्रह्माभिन्न हो जाते हैं ।। किञ्च-श्रीगौड़ पाद-"सर्वाभिलाप विगतः सर्वचिन्ता समुत्थित । प्रशान्तः सकृज्ज्योति समाधिरचलोऽभयः ।। १।। अभिलाप=कथन के साधन वाक् आदि बाह्येन्द्रियों की विषयता से रहित तथा सबचिन्ता=चिन्ता के साधन बुद्धि आदि की विषयता समुत्थित=रहित, अतः अत्यन्त प्रशान्त = निर्द्वन्द्व सकृत ज्योति, नित्य ज्योति= ज्ञान=स्वरूप जो ब्रह्म है सोई अचल अभय समाधि है, अर्थात् उसी में मन को समाहित कर्तव्य है ।।१।।

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ।।२।।

जिससे ब्रह्म ही समाधि है, अतः उसमें न ग्रहण है, न उत्सर्ग=त्याग है, ब्रह्म सब विकार क्रिया रहित है, अतएव जिसमें चिन्ता भी नहीं है,

उस ब्रह्म स्वरूप आत्मस्थ=आत्मनिष्ठ जब ज्ञान होता है, तब अजाति=जाति=जन्म रहित समता=सर्वसाम्यता गत=प्राप्त ज्ञान होता है ॥२॥

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्व योगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद्भये भयदर्शिनः ॥३॥
गौड़पादकारिकायां प्र० ३।३७-३९।

यद्यपि यह सर्वसाम्यता परमार्थतत्त्व है, तथापि यह अस्पर्श योग=सर्वसम्बन्ध रहित योग ही है, सिद्धि सम्पत्ति आदि का देह भेदादि का सम्बन्ध इसमें नहीं रहता है, अतः भेददर्शी सर्वयोगियों से वह योग दुर्दर्श=दुःख से दर्शनीय है। क्योंकि अभय=अद्वैतात्म स्वरूप में अज्ञान से भय=स्वनाश समझने वाले योगी इस योग से डरते हैं, अतः बुद्धि आत्मक से अपना सत्य स्वरूप समझते हैं ब्रह्मात्मक नहीं ॥ ३ ॥ २५ ॥
स एष=सो यह पूर्व प्रदर्शित ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ।२६॥

पूर्वकालिक गुरु ब्रह्मादि के भी गुरु=जनक=उपदेशक हैं, क्योंकि ब्रह्मा आदि का काल से अवच्छेद=भेदन = नाश होता हैं, ईश्वर का अवच्छेद नहीं होता है। भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वकालिक गुरु काल से महाप्रलय से अवच्छिन्न नष्ट किये जाते हैं। जिसमें अवच्छेद के लिये काल प्रवृत्त नहीं होता है, सो यह ईश्वर पूर्व के गुरुओं का गुरू है। और जैसे इस सर्ग=सृष्टि के आदि में प्रकर्ष=अतिशय ज्ञान शक्ति की प्राप्ति से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनुमानादि से सिद्ध=ज्ञात होता है, इसी प्रकार अतिक्रान्त=भूत और भावी सर्गादि में भी शास्त्र से ईश्वर को समझना चाहिये। क्योंकि सर्वज्ञसर्वशक्तिमान् एक गुरु ईश्वर के बिना अन्य गुरुओं की कभी ही सिद्धि हुई न हो सकती है "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै" जो ब्रह्मा को प्रथम सिद्ध उत्पन्न करता है, और फिर ब्रह्मा के प्रति वेदों को प्रदान करता है, इत्यादि सब सर्गादि के लिये सामान्य उपदेश है॥ वस्तुतः देशकाल वस्तु परिच्छेदरहित विभु नित्य सर्वात्मा ब्रह्म ही माया शक्ति से ईश्वर पद का वाच्य होता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१॥
श्वेता: अ० ४।१०

यद्यपि कार्यद्रव्य सावयव होता है, ईश्वर नित्य है, सावयव नहीं, तथापि उसकी शक्ति माया त्रिगुणमय होने से सांश है, अतः उस माया के मलिन सत्वांश वाले अनन्त अविद्यात्मक उपाधिवाले उस ईश्वर के अवयव तुल्य जीवों से जगत् व्याप्त है। माया प्रकृति उपादान कारण है, मायी=मायोपाधि वाला महान=विभु नित्य ईश्वर है, ऐसा समझना चाहिये ॥

गुरु र्ब्रह्मा गुरु र्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

तस्य=उस उक्त ईश्वर का वाचक=बोधक=नाम, प्रणव=ओम् है। भाष्यकार कहते हैं, कि सूत्रोक्त वाचक=बोधक प्रणव का वाच्य=बोध्य=प्रणव से समझने योग्य अर्थ ईश्वर है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या इस ईश्वर का प्रणव के साथ वाच्य वाचकत्व स्वरूप सम्बन्ध संकेतकृत=संकेतजन्य है। अथवा प्रदीप प्रकाश के समान स्वभाव सिद्ध अवस्थित=स्थिर है, अर्थात् संकेत के बिना दीप प्रकाशक होता है, घटादि प्रकाश प्रकाशने योग्य होते हैं, तो इनका प्रकाश्य प्रकाशकत्व सम्बन्ध संकेतादि-कृत नहीं है। उत्तर है कि इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ सम्बन्ध स्थित=नित्य है। महाप्रलय में यद्यपि वाच्य बाचक व्यवहार का भी अभाव हो जाता है, अतः सृष्टिकाल में ईश्वर ही संकेत करते हैं कि प्रणव वाचक है, ईश्वर वाच्य है, इत्यादि। अतः संकेतज = सम्बन्ध कहा जासकता है, तथापि—"अनादिनिधनावेदाः" आदि = उत्पत्ति, निधन = नाश से रहित वेद जैसे सृष्टिकाल में व्यक्त किये जाते हैं तैसे हि सृष्टि कालिक ईश्वर का संकेत भी स्थित ही ईश्वर प्रणव के वाच्य वाचकत्व सम्बन्ध रूप अर्थ का अभिनय—अभिव्यक्ति=प्रकाश करता है। जैसे लोक में अवस्थित ही पिता पुत्र के सम्बन्ध को संकेत से अवद्योतित = प्रकाशित किया जाता है कि वह इसका पिता है यह इसका पुत्र है ॥ सर्गान्तरों में भी वाच्य वाचक शक्ति की अपेक्षा = ज्ञान पूर्वक

सर्वज्ञ ईश्वर से तथैव = वर्तमान सृष्टि के समान ही संकेत किया जाता है। अन्यथा नहीं, क्योंकि सम्यक् प्रतिपत्ति = व्यवहार परंपरा के ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है, इस प्रकार आगमानुयायी प्रतिज्ञा निश्चय करते हैं ॥२७॥

ईश्वर वाचक प्रणव का वर्णन करके अब ईश्वर प्रणिधान=ध्यान-भक्ति विशेष का वर्णन किया जाता है कि— विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः-

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

ओंकार के वाच्यत्व वाचकत्व को जानने वाले योगियों का कर्तव्य है कि— उस ओंकार शब्द का जप करें और उसके अर्थ=ईश्वर की भावना=चिन्तनाध्यान करें। भाष्यकार कहते हैं कि प्रणव का जप= उपांशु = पाठाभ्यास,और प्रणव के वाच्यार्थ ईश्वर की भावना = चिन्तना= भक्ति=ये दोनों योगियों के कर्तव्य हैं, क्योंकि–तत् प्रणव का जप, और उसके अर्थ की भावना, प्रणव को जपने वाले उसके अर्थ की भावना करने वाले इस योगी के चित्त एकाग्र=एकेश्वरपरायण हो जाता है। सो कहा है कि— स्वाध्याय=जप से योग=एकाग्रता को आसीत=सिद्ध= प्राप्त करे, और योग=एकाग्रचित्त से स्वाध्याय का आमन = अभ्यास करे, इस प्रकार से स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति = सम्यक् प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशता = अनुभूत होता है ॥२८॥

किञ्चास्य भवति = उक्त जप और भावना से इस योगी को और = अन्य का लाभ होता है, इस प्रश्न का उत्तर रूप सूत्र है कि—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च ॥२९॥

ततः उस ईश्वरभक्ति ईश्वर साक्षात्कार से ही प्रत्यक्चेतन = अन्तरात्मा कूटस्थ जीव साक्षी का अनायास अधिगम = अनुभव होता है, और योग के अन्तरायों = विघ्नों का अभाव होता है। भाष्यकार कहते हैं कि जो व्याधि आदि जितने अन्तराय हैं, सो सब ही ईश्वर प्रणिधान से नहीं होते हैं, और इस योगी के स्वरूप = प्रत्यगात्मा का दर्शन = अपरोक्ष ज्ञान भी होता है कि जैसे ही ईश्वर शुद्ध = निर्मल - जन्मादि रहित, प्रसन्न क्लेश रहित, केवल = धर्माधर्म रहित, अनुपसर्ग = जन्मायु-भोगरूप उपसर्ग = फल रहित पुरुष है। तैसे जो यह बुद्धि के प्रति संवेदी = बुद्धिजन्यवेदज्ञानानुसार ज्ञानवान जो पुरुष है, सो भी है,

इस प्रकार योगी प्रणिधान से समझता है। श्रीकबीर साहब ने कहा है कि-

एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबीर सब नारि के, अविचल पुरुष भतार ॥१॥

बीजक र. साखी २७॥

एक ओंकार से अण्ड=ब्रह्माण्ड और सब जगत का पसार=विस्तार हुआ है। और सब नारी=माया अविद्या बुद्धि, तथा मन माया वशवर्ती जीव का ओंकार ही अविचल=अविनाशी=निश्चल भर्तार=पोषक धारक पुरुष है ॥१॥ "सन्तो अचरज एक भौ भारी। कहुँ तो को पतिआई। एके पुरुष एक है नारी ताकर करहु विचारा।" शब्द ॥५॥ इत्यादि। श्रुतियाँ हैं कि="एको देवः सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। श्वेता० ६॥११॥" एक ही दिव्यात्मा सब भूतों में गूढ़=छिपा हुआ है, सब में व्यापक है, सबके अन्तरात्मा है, इससे ईश्वर से भिन्न अन्तरात्मा सांख्ययोगादि की कल्पना मात्र है। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एक-मेवाद्वितीयम् ॥ छा. ६।१।१"

अङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूपः संकल्पाऽहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धे र्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोह्यपरोऽपि दृष्टः ॥१॥

श्वेता० ५।८ ॥

हृदयाकाशोपाधि से अङ्गुष्ठमात्र, स्वयं प्रकाश होने से सूर्य तुल्य स्वरूप वाला, आत्मा है। अतः श्रुति की मुख्य (लक्ष्य) ओंकारार्थ निर्वेष एक है। सो माण्डूक्य के विचार से सिद्ध होता है। वाच्यार्थ में विशेषता है। अतएव नाम नामि अभिधान, अभिधेय में नाम अभिधान में मुख्यत्व दृष्टि से कहा गया है कि "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥ यावत् दृश्यमान संसार है वह ओंकार स्वरूप है।

इति ब्रह्मनिष्ठ स्वामीश्रीहनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीकृत सद्गुरुकबीर वेदादि वचनरहस्यैकता समाप्त।

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
पुस्तकालय
ग्रं० आ० सं० 3180

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
भाक्ता	भोक्ता	२	११	हा	हो	२१	८
मापिक	मायिक	१६	२६	हा	हो	६२	१७
घटाटि	घटादि	६	२३	दुष्कृःते	दुष्कृते	६६	१५
रहति	रहित	१७	२२	जोगाय	योगाय	६६	१६
भमा	भूमा	१७	२६	आर	और	७४	२१
प्राणिया	प्राणियों	१८	१४	अधिकाराथक	अधिकारार्थक	७५	२५
कौल	कौन	२६	३	भावर्थ	भावार्थ	७६	२
है	हैं	३३	२७	हा	हो	७८	१६
नित्थो	नित्यो	४०	१७	व्युत्याना	व्युत्थाना	८०	१३
स्तेषां	स्तेषा	४०	१८	निरोव्य	निरोद्धव्य	८१	४
पणािम	परिणाम	४३	११	पञ्चतव्यय:	पञ्चतयय:	८१	५
चन्द्रसर्य	चन्द्रसूर्य	४४	९	त्तपप	तपप	८१	८
तीनि	तीन	४४	१६	समास	समाप्त	८१	२३
संकल्पमतु	संकल्पमस्तु	४५	२	गतमान	गतिमान	८३	१
सूक्ष्मभूत	सूक्ष्मभूत	४५	१८	ख्यति	ख्याति	८५	११
रजोंस	रजोअंस	४७	६	सप	सर्प	८५	१२
,,	,,	,,	१२	दाष	दोष	८५	१३
श्राता	श्रोता	४७	२५	हाता	होता	८५	१५
शरी	शरीर	४७	२७	शब्दो	शून्यो	८६	८
सिन्द्धान्त	सिद्धान्त	४८	१५	अगमन	अनुगमन	८६	६
घारा	धीरा	४८	१६	सवथा	सर्वथा	८७	२१
हाता	होता	५१	१८	अहोस्वित	आहोस्वित्	८८	२१
मिप्या	मिथ्या	५५	१६	अदि	आदि	६०	२५
समझा	समझो	५४	१३	स्थूलभते	स्थूलभूते	९३	४
शरार	शरीर	६०	१५	तक्यते	तर्क्यंते	८३	७
				पूण	पूर्ण	६३	९